॥ श्रीहरिः ॥

सेवाकौमुदी

हिन्दी भाषान्तरसहित.

अनुवादकर्ता
गोस्वामिकुलकौस्तुभश्री १०८ श्रीगोकुल-
नाथजी महाराजकी आज्ञानुसार
भट्टश्रीरमानाथशर्मा
शुद्धाद्वैतभूषण.

सन् १९१९—सं. १९७५.

मूल्य ४ आना.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीलाल्लूभट्टोपनामकदीक्षितश्रीबालकृष्णभट्टप्रणीता ।

सेवाकौमुदी ।

भाषान्तरसहिता ।

प्रथमं प्रकरणम् ।

श्रुतिसिद्धं रसाम्भोधिरासमण्डलमण्डनम् ।
गोपिकानयनानन्दं गोवर्द्धनधरं भजे ॥ १ ॥
श्रीवल्लभपदाम्भोजरजांसि प्रणमाम्यहम् ।
यत्सम्पर्काद्व्रजाधीशप्रेमसेवां जनोऽश्नुते ॥ २ ॥
श्रीविट्ठलेश्वरं वन्दे कृष्णसेवाप्रवर्त्तकम् ॥
येन गोवर्द्धनाधीशः सख्येनाऽऽत्मवशीकृतः ॥ ३ ॥

१. अथ पुष्टिभक्तिमार्गीयसेवा किम्प्रमाणमूलिकेत्यादि-विचार आरभ्यते ।

तत्र "सर्ववेदेतिहासानाम्" "निगमकल्पतरोर्गलितं फलमि"त्यादिवचस्सहस्रैः सर्वश्रुतिसारभूतत्वान्निखिलप्रमाणमूर्द्धन्यता समाधिभाषारूपस्य श्रीभागवतस्याऽभ्युपेया । निबन्धे च "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानी"ति सन्दर्भे "उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्त्तितमि"त्यनेन सर्वसन्देहवारकत्वं श्रीभागवतस्यैव निरणायि ।

१. भगवल्लीलास्थल इस विशाल जगत्में प्रधानतः दो

प्रकारके मनुष्य हैं। एक वे जिन्हे अपनेसे दूसरेका असीम उत्कर्ष देखा नहीं जाता। ऐसे लोग उस अपने दोषको किसीतरह छुपाकर भलमनसी वा जिज्ञासुपनका ढोंग दिखाकर मतमतान्तरके नेताओंसे वा तदनुयायिओंसे उनके कर्तव्यमें प्रमाणका प्रश्न कर बैठते हैं। मध्यमें उसेही कुछ वादका रूप दे देते हैं। और अन्तमें अपनी असहिष्णुता प्रगट होजाने पर उस वादको ही आक्षेप और लडाइमें फैला देते हैं। ऐसे छुपे द्वेषीदुरधिकारियोंके किसी प्रश्नका कोईभी उत्तर हो नहीं सक्ता। और यदि उत्तर दियाभी जाय, तौभी उनका वह पक्ष समाप्त न होगा। क्योंकि उन्हे उस वादसे किसी एक सिद्धान्तपर आना तो है ही नहीं। वे तो केवल उत्तरदाताके सिद्धान्तको, अपने नीच आक्षेपोंके द्वारा हलका दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं। और इस तरह उद्देश सिद्ध हो वा न हो, अपनी द्वेषाग्निको ठंडी करना चाहते हैं। किन्तु उन्हे यह मालुम नहीं कि सच्चा पदार्थ कितनाही परीक्षाकी कसौटी पर चढाया जाय दिव्य और शुद्धही निकलैगा। परीक्षा और वादमें जब किसीका सिद्धान्त अपने निश्चयके विरुद्ध विशुद्ध निकलै, उस समय वह शुद्धता उनकी उस द्वेषाग्निपर घृतका कार्य करती है। ऐसे समय वे लोग शास्त्र और मर्यादाको छोडकर प्रश्न तथा आक्षेप करने पर उतारू होजाते हैं। आक्षेपको हृदयमें रख प्रश्न करनेवालेके प्रश्नोंका अन्त आना कभी संभव नहीं। इस लिये ऐसे विघ्नसंतोषी दुर्दुरूढ पुरुषोंके प्रश्नोंका यातो

एक शास्त्रोचित उत्तर देकर चुपहो रहना उचित है। किंवा सर्वथा उपेक्षा करनाही उत्तम उत्तर होता है।

इनसे दूसरे अधिकारी वे हैं जो किसी सिद्धान्तकी जिज्ञासाकेलिये शास्त्र और शास्त्रानुकूल युक्तियोंद्वारा एक दूसरेके सिद्धान्तको दबाते हुए अपने समझे हुए सिद्धान्तका स्थापन करते हैं। वास्तवमें वे वादी कहलानेका अधिकार रखते हैं। उनके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें विद्वानोंको आनन्द मिलता है। उनके प्रश्नोंका मूल, उत्कर्षासहिष्णुता नहीं किन्तु जिज्ञासा है। उनका हृदय सच्ची बातको ग्रहण करना चाहता है। ऐसे जिज्ञासु अधिकारियोंके हृदयमें कभी कभी यह प्रश्न उठता है कि भक्तिमार्गके पुष्टिमार्ग नामक संप्रदायमें प्रभुकी सेवा किस प्रमाणके अनुसार होती है।

किसी कामके फल साधन और प्रकारमें उन उन पदार्थके समझनेकी बडी आवश्यकता रहती है। कर्मपरिकरके ज्ञान (समझ) का साधन ही प्रमाण कहा जाता है। सूक्ष्मविचार न किया जाय तो कहसक्ते हैं कि दुनियामें समर्थ प्रमाण (ज्ञानके साधन) दोही गिने जाते हैं। प्रत्यक्ष और शास्त्र। प्रत्यक्षप्रमाणमें इन्द्रिय और मनकी मुख्य सहायताहै। इसलिये वह यद्यपि लौकिकव्यवहारमें बलवान् है, तथापि अदृष्ट अलौकिक स्वर्गादि पदार्थोंके विषयमें उसकी गति कुण्ठित है। इसलिये लोकातीत पदार्थोंके निर्णय करनेमें पुराने विद्वान् विवेचकोंने शास्त्रकोही प्रमाण माना है। गत्वा गत्वा अन्ततः धर्म और ब्रह्म ये दोही शास्त्रके निर्णय पदार्थ

हैं। यदि इनके साधनके तरफ निगाह डाली जाय, अर्थात् धर्म और ब्रह्म कौन उपायोंसे प्राप्त होंगे तौभी कहना पडता है कि इसके लियेभी शास्त्रही प्रमाण है। किंबहुना त्रिवर्गके उपायोंमेंभी शास्त्रकोही प्रमाण मानना पडैगा। अत एव गीतोपनिषत्में प्रभुने कहा है 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'।

उत्तम शिक्षा देनेवाले वाक्यको शास्त्र कहते हैं। शास्त्रमें सबसे प्रथम स्थान वेदका है। वेदके प्रामाण्यमें किसीका विरोधही नहीं। किन्तु केवल वेदमात्रसे सब बातोंका निर्णय करना असंभव नहीं तौभी सर्वज्ञताकी तो अवश्य अपेक्षा रखता है। जैसे वक्ता अपने वाक्यका मूलतात्पर्य स्वयं अच्छी तरह कह सक्ता है। इसी तरह वेदरूप ईश्वर वाक्यका तात्पर्य, यथार्थ रीत्या ईश्वरही जान सक्ता है। अन्यकी यह सामर्थ्य नहीं कि वह वेदके मूल तात्पर्यको निकाल लावै। इसीलिये कहा है कि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'

'इत्यस्या हृदयं लोके नाऽन्यो मद्वेद कश्चन'।

यह रीति है कि जहां मूलतात्पर्य हात न लगै वहां उस तात्पर्यके ग्रहणार्थ बुद्धिमान्को तदनुकूल अपनी बुद्धिका सहारा लगाना पडता है। जैसे—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' और 'गङ्गायां घोषः' 'कौवोंसे दही बचाना' तथा 'गंगाके प्रवाहमें गोशाला' इन दोनो वाक्योंमें तात्पर्यानुपपत्ति होनेसे बुद्धिमानोंनें अपनी बुद्धिका सहारा दिया है, और यह करलिया

कि 'दही नाशकरनेवाले सब प्राणियोंसे उसे बचाओ। इसी तरह दूसरे वाक्यमें 'गंगातटपर गोशाला'। इस बुद्धिके सहारेका नाम विद्वानोंने लक्षणा रक्खा है।

वेदमेंभी जब वाक्यका तात्पर्य हाथ नहीं लगता उस समय बुद्धिका सहारा लगाना पडता है। वहांभी अपने तर्क और विचारसे काम लेना पडता है। इतनाही भेद है कि वेदके तात्पर्य जाननेके लिये ईश्वरकी बुद्धिही काम देसक्ती है। सामान्य मनुष्यकी सामान्य बुद्धिमें भ्रमविप्रलिप्सा आदि बुद्धिदोष नियत होते हैं। अत एव ऐसी बुद्धिसे यातो शास्त्रका अर्थही नहीं लगता यदि हो भी तौ अनेक सन्देह पैदा होजाते हैं। ऐसे समय वेदार्थको बैठानेके लिये भगवान् स्वयं एक अंश द्वारा अवतार लेते हैं। वह ज्ञानकलावतार प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता श्रीवेदव्यास हैं। यद्यपि व्याकरण आदि छ अंगोंसे वेदका अर्थ होसक्ता है, तथापि मन्दमध्यम अधिकारियोंको तात्पर्यमें सन्देह बने रहते हैं, इसलिये निर्दोष विचार शास्त्रकी बडी आवश्यकता रहती है। वेदार्थके संदेहोंको दूर करनवाले शास्त्रको विचार शास्त्र किंवा मीमांसा कहते हैं। उपनिषद्भागके संदेहोंको दूर करनेके लिये तथा वेदके तात्पर्यको बतानेके लिये भगवदाज्ञानुसार वेदव्यासजीने सूत्रमय विचार शास्त्र बनाया। जिसे हम उत्तर मीमांसा कहते हैं। वेदव्यासजीने ही कतिपय पुराण तथा वेदार्थके आभासको दिखानेवाले श्रीमन्महाभारतआदि औरभी ग्रन्थ प्रकट किये। इतना करने परभी व्यासजीके हृदयको संतोष

न हुआ। फिर नारदजीने श्रीव्यासको समझाया कि मनुष्य कैसा भी बुद्धिमान् क्यों न हो उसके कार्यमें कुछ न कुछ त्रुटि रहही जाती है। मोक्षके सिवाय सब पुरुषार्थ दोषयुक्त हैं। एक मोक्षही अत्यन्तिक और निर्दोष पुरुषार्थ है। परमात्माका साक्षात्कार होना ही मोक्ष किंवा चौथा पुरुषार्थ कहा जाता है। आपने धर्म अर्थ काम इन त्रिवर्गकी कथा तो बहुत विस्तारसे गाई पर परमात्माके विशुद्ध चरित्र न कहे, जिससे जीवको निर्दोष पुरुषार्थकी प्राप्ति हो। यही वेदादि सर्व शास्त्रोंका तात्पर्य है। साक्षात्पुरुषोत्तमसे प्राप्त हुआ यह श्रीमद्भागवत में तुम्हे देता हूं। आप भी पुनः समाधिद्वारा इसे अपने हृदयमें जमाकर अब प्रभुके चरित्रोंका विस्तार लोकमें करो। इस तरह श्रीनारदद्वारा उपदेश पाकर श्रीव्याսजीने सर्व वेदोंके सार सर्वनिर्णयरूप सर्व संदेहोंको दूर करनेवाले श्रीमद्भागवत का प्रकाश किया। समाधिमें सब पदार्थोंका अनुभव कर श्रीद्भागवतका निर्माण हुआ अत एव इसे सर्व निर्णायक कहते हैं। और समाधिभाषा भी कहते हैं। और इसीलिये सेवा विषयका निर्णय करते समय हमेंभी श्रीमद्भागवतका आश्रय लेना उचित है। सूतजीने सर्व ऋषियोंके सन्मुख कहा है कि 'सर्ववेद इतिहास आदि शास्त्रोंका सार यह श्रीमद्भागवत है'। तथा वेदव्यासजीने प्रारम्भमेंही यह कहा है कि 'वेदरूप वृक्षका स्वयं पतित फल यह श्रीमद्भागवत है'। इत्यादि अनेक वाक्योंसे यह सिद्ध है कि श्रीमद्भागवत सर्व शास्त्रोंका सार है। सर्व विषयोंके

निर्णय करनेमें समर्थ है। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणोंनेभी तत्वदीप निबन्धमें कहा है कि 'अलौकिक पदार्थोंके निर्णय करनेमें वेद, सूत्र, गीता, और श्रीमद्भागवत ये चार प्रमाण समर्थ हैं। इन चारोमें एक दूसरेका उत्तरोत्तर संदेह निवारक है।

इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वसंदेहरहित निर्णय करना हो तौ श्रीमद्भागवतका आश्रय ले। इसलियेभी सेवाका निर्णय करते समय हमें श्रीमद्भागवतके वचनोंकाही आश्रय लेना उचित है।

२. तत्र च "श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तममि"त्यनेन नवविधभक्तेरेव मुख्यतया कर्त्तव्यतोपदिश्यते।

२. श्रीमद्भागवतके सप्तमस्कंधमें प्रल्हादने अपने पिताके प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि 'हे जनक! परमात्माका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, (सेवा) अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन, यह नौ प्रकारकी भक्ति यदि प्रभुमें समर्पित करके की जाय तौ मैं उसे उत्तम अध्ययन (पढना) समझता हूं'। इस तरह उस स्थलमें शास्त्रविचारका उत्तम फल बताकर यह वक्तव्य है कि 'नवधाभक्ति करनाही मोक्षकेलिये जीवका मुख्य कर्तव्य है'।

३. नवलक्षणा श्रवणादिनिवेदनान्ता भक्तिर्भगवत्यर्पिता क्रियते चेत्तदधीतमुत्तमं मन्य इत्यन्वयः। तथा च 'अर्पिता

क्रियत' इत्युक्त्या भक्तेरर्पितकरणं विवक्षितम् । न त्वर्पिताया: कृतिविषयत्वम् । चकार तर्ह्येव हताश्व कुञ्जरमित्यादौ भूतार्थक्तप्रत्ययार्थाविवक्षया सैन्यगताश्वकुञ्जरविषयकहननस्य कृतिविषयत्वं न तु हतानां तथेहाऽपि । अर्पणं चेह स्थापनम् । "यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरप्रसाद" इत्यादौ तथा सिद्धेः । एवं सति नवविधाया अपि भक्तेर्भगवत्यर्पणं स्थापनं न तु फलान्तरे विनियोगः कार्य इति भावः ।

३. श्लोककी अक्षरयोजना इसतरह है कि 'श्रवणको आदि लेकर निवेदनान्त यह नौ प्रकारकी भक्ति यदि भगवान्में अर्पण करके करे तो उसे मैं उत्तम अध्ययन मानता हूं' ।

यहां 'अर्पिता' कहनेसे यह मतलब है कि भक्ति करनेके अनन्तर अर्पण करना उचित नहीं किन्तु करते समयही प्रभुमें उसका अर्पण करना । जैसे किसीने कहा कि 'शूरवीरने तत्क्षणही समरको, मर पडे हैं घोडे और हाथी जहां ऐसा कर दिया' इस वाक्यमें घोडे हाथियोंका समरमें मारना वक्तव्य है, न कि मरे हुए इकट्ठे करना । इसीतरह यहां भी समझना । 'अर्पिता' में अर्पणका अर्थ है स्थापन । अर्थात् श्रवणादि भक्ति करते समय उस भक्तिको प्रभुमेंही रक्खे, उसे औरफलमें काम न ले । भक्तिसे, भगवदितर मोक्षकी भी चाहना न करना चाहिये । इसेही अर्पिता भक्ति कहते हैं । यदि भक्तिसे फलान्तरकी चाहना की जाय तो वह भक्ति, प्रभुसे छीन ली गई ऐसी मानी जायगी । अर्पित, वा स्थापित वही कहलाती है जो जहांकी तहां रही आवै । और

उसे उठाकर औरकाममें लेले तो उसे स्थापित नहीं कहते। इसलिये नवधाभक्ति करते समय प्रभुसे, वा देवतान्तरसे भी भक्तिके एवजमें किसी अन्य फलकी चाहना न रखना चाहिये।

४. इह वाक्ये पुंसेति सामान्यनिर्देशात्सर्वाधिकारकत्वं भक्तेः। अत्रैव नारदोऽपि "श्रवणं कीर्तनं चाऽस्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्याऽवनतिर्दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत" इत्यवदत्। अतोऽपि सर्वेषां भक्तावधिकारः।

४. इस वाक्यमें 'पुंसा'–'मनुष्यने' यह सर्व साधारण उक्ति है। इससे मालुम पडता है कि प्रभुकी नवधा भक्ति करनेमें मनुष्यमात्रको अधिकार है। इसी सप्तमस्कंधमें श्रीनारदजीने कहा है कि सत्पुरुषोंके आश्रय इनप्रभुका श्रवण कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेन ये मनुष्यमात्रका श्रेष्ठ धर्म है। इसतरह यह सिद्ध होता है भक्तिमें सबका समान अधिकार है।

५. तत्र भगवदीयवक्तृमुखाद्भगवज्जन्मनामस्तोत्रादीनां श्रद्धयाऽऽकर्णनं श्रवणम्। "शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोक" इत्यादौ जन्मकर्मणां श्रवणविषयत्वोक्तेः। उपलक्षणविधया नामादीनां च संग्रहात्। वाक्यान्तरेषूक्तत्वाच्च।

५. प्रभुभक्तके मुखसे प्रभुके जन्मादि चरित्र, नाम, तथा स्तोत्रपाठादिका ध्यानपूर्वक श्रवण करनेको 'श्रवण' कहते हैं। एकादशस्कंधके दूसरे अध्यायमें ब्रह्मवेत्ता भगवान्

कविने कहा है कि 'हे राजन् जनक भगवद्भक्त, सबसे आसक्ति हटाकर चक्रधारी भगवान्‌के परममंगल जन्म और कर्मोंका श्रवण करता हुआ, तथा जन्मकर्मकी याद दिलानेवाले भगवन्नामोंको खुलासा लेता हुआ विचरै'। यहां श्रवणका विषय जन्मकर्मोंको कहा है इसलिये, तथा और वचनोंमें नामश्रवणका भी माहात्म्य कहा है इस लियेभी प्रभुकी जन्मादिलीला और नामादिको श्रद्धासे ध्यानपूर्वक सुननेको 'श्रवण' कहते हैं।

६. भगवन्नामकर्मस्तोत्रादीनां श्रद्धया कथनं कीर्त्तनम्। "गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्याऽनुस्मरन्ति च" "गीतवेणुरनुगेडितकीर्त्तिरि"त्यादिना नामकर्मादीनां कीर्त्तनविषयत्वोक्तेः।

६. प्रभुके नाम, चरित्र तथा स्तोत्रोंका श्रद्धासे अधिकारानुसार कहनेको 'कीर्तन' कहते हैं। 'गृणन्ति गुणनामानि' तथा 'गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः' इत्यादि श्लोकोंमें प्रभुके चरित्र आदिको कीर्तनका विषय कहा है, इसलिये भगवानके चरित्र स्तोत्रादिको श्रद्धासे कहना इसेही 'कीर्तन' कहते हैं। यह कहना ठीक है।

७. भगवत्स्वरूपलीलापरिकरादीनां श्रद्धया चिन्तनं स्मरणम्। "स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्" "स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जना" इत्यादौ स्मरणविषयत्वेन रूपलीलादीनामुक्तेः।

७. प्रभुके स्वरूप, लीला, तथा लीलाके परिकरको मनमें लेआनेको 'स्मरण' कहते हैं। 'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिं' तथा 'स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः' इत्यादि वाक्योंमें प्रभुके चरित्र तथा स्वरूपको स्मरणका विषय कहा है इसलिये स्वरूपलीलादिके चिन्तनको 'स्मरण' कहना उचितही है।

८. निरन्तरं श्रद्धया परिचर्या पादसेवनम्। पादसेवन-शब्देन सर्वाऽपि परिचर्या। न तु चरणसेवामात्रम्। नारदोक्तनवविधभक्तौ 'सेवेज्ये'त्यनेन सेवामात्रस्य ग्रहणात्।

८. श्रद्धासे सदा प्रभुकी सेवा करना इसे 'पादसेवन' कहते हैं। 'श्रवणं'–इत्यादि श्लोकमें 'पादसेवनं' इसपदसे केवल चरणसेवाही न समझना चाहिये किन्तु सोहिनीकी सेवासे लेकर अन्नकूटादिकी महासेवा पर्यन्त सब सेवा लेना उचित है। क्यों कि श्रीनारदके 'सेवेज्या' इत्यादि वाक्यमें केवल सेवा शब्द है। इसलिये यहांभी पादसेवनसे सब सेवाही लेना उचित है।

९. माहात्म्यबुद्ध्या लोकविलक्षणोपचारकरणमर्चनम्। स्वदैन्याविष्कारपूर्वकं श्रद्धया नमनं वन्दनम्। अनन्यगामित्वं दास्यम्।

९. माहात्म्य समझकर लोकरीतिसे जुदी तरह जो प्रभुकी परिचर्या (सेवा) करते समय, जो उपचार किये जांय उसे अर्चन कहते हैं। अपनी दीनताको प्रकट करते हुए जो प्रभुको नमन करना वह 'वन्दन' कहा जाता है। किसी

तरहसेभी प्रभुके सिवा और किसीका आश्रय न लेनेको 'दास्य' कहते हैं।

१०. श्रद्धया भगवत्यप्रेरितप्रियकरणं सख्यम्। "सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छती"ति गीतावाक्ये सुहृत्पदार्थस्य तथा निर्णयात्। चतुर्थस्कन्धे "चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलमि"त्यत्र विश्वसुहृत्त्वाद्विश्वहितकारित्वमुच्यते। दशमस्कन्धे "कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदमि"त्यादावप्रेरितहितकरणस्य सुहृद्धर्मत्वेनोक्तत्वात्। अन्यत्राऽपि सख्येऽप्रेरितहितकरणस्य श्रूयमाणत्वात्। यथा "वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखे"ति वाक्याद्भगवत्सखः श्रीमदुद्धवो बाल्यमारभ्य सपर्यां कृतवान्। तस्यां दशायामितरप्रेरणासम्भवादप्रेरितैव सपर्याकृतिरिति ज्ञेयम्। "यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः। तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलये"त्युद्धवप्रशंसकतृतीयस्कन्धवाक्यात्। अत एव "दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम्। प्रेमप्रवृद्धमुदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रमि"त्यनेनाऽम्बुदस्य स्वसख्यौ (?) भगवत्यप्रेरितप्रियकरणरूपमातपनिवारकच्छायाकरणं श्रुतिगोपिकाभिर्निरूपितम्।

१०. श्रद्धासे प्रभुमें और प्रभुकी सेवामें किसीकी बिना-प्रेरणा जो हित करना उसे 'सख्य' कहते हैं। 'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' इस गीतोपनिषत्के वाक्यमें यह निर्णीत है कि हिताचरणको सख्य कहना

उचित है। तथा चतुर्थस्कंधके 'चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलं' इस श्लोकमेंभी 'सबका हितकरना' यही सुहृत्का धर्म कहा है। दशमस्कंधके 'कुर्वन्पारोक्ष्य सौहृदं' इस वाक्यमेंभी बिना किसीकी प्रेरणा हित करनेकोही सुहृत्का धर्म बताया है। 'किसी विधि वा नियमके न रहतेभी हित करना' यह मैत्रीका धर्म है यह औरभी स्थलोमें आचुका है।

जैसे दशमस्कंधमें श्रीमान् उद्धवको कहा है कि 'यादवोंमें श्रेष्ठ तथा प्रभुके मन्त्री और प्यारे सखा' इस सखा पदकी विशेष व्याख्या करते समय यह स्वयं स्फुरित होता है कि 'उद्धवजीने अपनी बाल अवस्थामेंही प्रभुकी सेवा प्रारंभ करदी थी'। शिशु अवस्थामें किसीकी प्रेरणा होना और उसका पालन करना असंभव है। इसलिये कहना पडेगा कि उद्धवनेभी अप्रेरितही प्रभुकी सपर्या की। यह बात तृतीयस्कंधमें कहीभी है कि 'प्रभुकी सेवा रूप बालक्रीडा करते समय जिस उद्धवको माताने कलेवाके लिये बुलाया किन्तु उद्धवने उसे न चाहा तो वह अब मैत्रीमें पला हुआ प्रभुके विरहको कैसे सहन करे'। अत एव दशमस्कंधमें श्रुतिरूपा गोपिकाओंने कहा है कि 'हे आलि वनमें श्रीराम तथा गोपबालकोंके साथ व्रजके गोवत्सादिको चरानेके लिये, जब प्रभु पधारते हैं तो सूर्यकी धूपमें आपको गोचारण करते तथा वेणुनाद करते देख, यह घनश्याम सखा मेघ अपने विशाल देहकी छायासे छत्रछाया, तथा छोटी छोटी जलकी फुहारोंसे शीतलता, कर

प्रभुकी सेवा करता है'। यहां श्रीगोपिकाओंके वाक्यसेभी आतप निवारणरूप 'अप्रेरित हित करना यह सुहृत्का धर्म है' यह सिद्ध होता है।

११. किञ्च। "कराविव शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी। अप्रेरितं प्रियं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यत" इति लोकन्यायाच्च सख्यशब्दाभिधेयमप्रेरितप्रियकरणमितीहाऽऽदर्त्तव्यम्। "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्चे"त्यनेन व्यवहारतोऽपि शक्तिग्रहस्वीकारात्। श्रीधरस्वामिनोऽपि "सख्यं विश्वासादी"त्युक्त्वा आदिशब्देनाऽस्मदुक्तार्थमेव सञ्जगृहुः।

११. लोकमेंभी यह प्रसिद्ध है कि 'जैसे दोनो हस्त शरीरका, तथा दोनों पलक नेत्रोंका, विना कहे हित करनेमें तत्पर रहते हैं, इसी तरह जो अपने मित्रका अप्रेरित प्रिय करता रहै उसे 'मित्र' कहते हैं'। इस तरह अनेक प्रमाण वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि नवधाभक्तिके इस श्लोकमें 'सख्य' शब्दका अर्थ 'अप्रेरितहित करना' यही युक्त है। व्याकरण, उपमान, कोष, यथार्थवक्ताका वाक्य, तथा लोक प्रसिद्धि, इन पांच प्रमाणोंसे शब्दकी शक्ति (अर्थ) का निर्णय किया जाता है। ये सब सख्य शब्दके अर्थ करनेमें एकमत हैं। यदि आप्तवाक्यकी आकांक्षा हो तौ श्रीधरस्वामी श्रीभागवतकी टीकामें 'सख्यं विश्वासादि' (मित्रता दृढ़विश्वास आदि धर्मोंको कहते हैं) कह कर हमारेही अर्थकी पुष्टि करते हैं।

१२. तदिह भगवन्मूर्तिसेवमानेन क्रियमाणास्तत्तद्देशकालानुकूलोपचारास्तूलकञ्चुकचन्दनलेपनप्रभृतयो "मालया दयितगन्धतुलस्या" इत्यादिवाक्यसिद्धास्तुलस्यादयश्च भगवतः प्रियरूपा बोध्याः । अप्रेरितत्वं तु विधायकवचनविषयत्वाभावः । तथा सति मन्त्रादिभिरेवोपचारा विधेया इत्याग्रहो न रक्षणीयः । तदुक्तं निबन्धे "मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेदि"ति ।

१२. जहां जहां प्रभुकी सेवा विराजमान है, वहां सर्वत्र ग्रीष्ममें पंखा करना, चन्दन धारण कराना, इत्यादि, तथा शीतकालमें गद्दर धारण कराना, सुहागसोंठभोग, इत्यादि जितने ऋतुके अनुसार उपचार किये जाते हैं वह सब सख्यभक्ति है । क्यों कि ये उपचार प्रभुको प्रिय हैं । यद्यपि ऐसे उपचार करनेमें सदाचारके सिवा और वेदादिकी आज्ञा नहीं मिलती, तथापि एकादशस्कंधकी 'यद्यदिष्टतमं' इत्यादि आज्ञाके अनुसार प्रभुके प्रिय होनेसे सख्यरूप ये उपचार करनेमें आते हैं । किसीकी प्रेरणा बिना प्रिय हित उपचारोंका करना यही तो सख्य कहलाता है । किसी शास्त्रके वचनका विषय न होना यह 'अप्रेरित' कहा जाता है । 'मालया दयित गन्धतुलस्या' इत्यादि वचनोंसे यह मालुम पडता हैं कि 'तुलसी प्रभुको अति प्रिय है' अत एव सेवामें (भोगादिमें) तुलसी समर्पण होता है । इससे यहभी स्पष्ट होता है कि 'मन्त्रादिसेही सेवा करना' यह आग्रह रखना ठीक नहीं है । इसी लिये निबंधमें श्रीमदाचार्य चरणोंकी आज्ञा है कि 'मन्त्रमात्रसे पुजा करनेके आग्रहमें न पडे' ।

१३. आत्मनो जीवस्य सपरिकरस्य निवेदनं भगवत्सेवोपयोगिकरणमात्मनिवेदनम् । परिकरस्तु "दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनामि"त्येकादशे भगवद्वाक्यात् देहादयो दारादयश्चाऽहन्ताममतास्पदभूताः । तत्सहितस्याऽऽत्मनो भगवत्सेवोपयोगिकरणं विवक्षितम् ।

१३. देह स्त्री पुत्रादि समग्र परिकर सहित अपने आपको प्रभुके निवेदन करना यह 'आत्मनिवेदन' कहा जाता है। आत्मनिवेदनसेही जीवको प्रभुसेवा करनेका अधिकार मिलता है । दारान् सुतान् इत्यादि नवयोगीश्वरके वाक्यसे तथा एवं धर्मैनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनां इत्यादि उद्धवके प्रति प्रभुके वचनामृतोंसे गृहपुत्रादिक जीवके परिकर हैं यह मालुम पडता है । और ऐसे ऐसे वचनोंका यही तात्पर्य है कि परिकरसहित आत्माके निवेदन करनेसे जीवको प्रभुकी सेवाकरनेका अधिकार मिलता है ।

१४. तत्र "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं त" इति वाक्यान्निखिलप्रपञ्चस्य भगवदीयतायाः सिद्धत्वेन किं नाम निवेदनमिति भवति शङ्का ।

तत्राऽयं सिद्धान्तः । देहादेर्भगवदीयत्वेऽपि जीवस्य मायामोहितबुद्धित्वाद्देहादौ स्वकीयत्वाध्यासरूपो दोषो निवेदनप्रतिबन्धकः । तन्निवृत्तिरपेक्षिता । अष्टमस्कन्धे विन्ध्यावल्या "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं त" इत्यनेन क्रीडार्थं

प्रपञ्चनिर्माणमुक्त्वा "स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युरि"त्यनेन मायोत्थमोहजन्यकुधीत्वप्रयुक्तं जीवानां देहादिविषयकस्वाम्यभिमानकरणमध्यासरूपमुक्तम्। अतोऽध्यासः परिहरणीयः। तथा च सिद्धमिदं लक्षणम्। स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकभगवदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भगवत्सेवोपयोगिकरणमात्मनिवेदनम्।

१४. यहां प्रश्न हो सक्ता है कि 'जब प्रभुने अपनी क्रीडाके लियेही यह समग्र जगत् बनाया है' तो समग्र जगत् अपने आप प्रभुकाही ठहरा फिर इसका निवेदन कैसा। जो वस्तु पहलेसेही दूसरेकी है उसका उसै निवेदन करना यह तो एक परिहास है।

इस प्रश्नपर यह सिद्धान्त शास्त्र सिद्ध है कि यद्यपि समग्र जगत् प्रभुका है, अत एव देह गेह आदि अहंता ममताके पदार्थभी भगवदीय हैं। तथापि जीवकी बुद्धि भगवन्मायासे मोहित होरही है इसलिये इस जीवको उन प्रभुके पदार्थोंमें 'यह मेरे हैं' इस तरह अनादिकालसे अपनेपनकी उलटी बुद्धि चली आरही है। यह उलटी समझही प्रभुसेवाकी बाधक है। इसीसे जीवका सेवाकरनेका अधिकार जाता रहा है। इस उलटी समझका निवृत्त होना (हटजाना) बडा अपेक्षित है। अष्टमस्कंधमें बलिराजाकी महारानी विन्ध्यावलिने कहा है कि 'हे प्रभो आपने अपनी क्रीडाके लिये इन तीनों लोकोंका निर्माण किया है किन्तु दोषबुद्धिवाले जीव इन आपके पदार्थोंमें अपना स्वामित्व जमाते हैं'।

इस वचनमें जीवोंकी बुद्धि मायामोहसे भ्रष्ट होगयी है, अत एव इन्है परवस्तुमें अपनापन यह अध्यास हुआ है, यह बात कही है। इस अध्यासको हटाना यह नितान्त वाञ्छनीय है। अपने अपने अहंता ममताके स्थान यह स्त्री पुत्र देह आदि पदार्थ, प्रभुके चरणोंमें समर्पण करनेसे यह अध्यास धीरे धीरे निवृत्त होता है। और इसीसे गया हुआ प्रभुसेवाका अधिकार जीवको फिर मिल जाता है । इससे स्पष्ट है कि प्रभुके पदार्थोंमें 'यह मेरे हैं' यह जो एक जीवकी उल्टी समझ हो रही है इसे हटाकर 'यह सब प्रभुकेही हैं' इसबुद्धिको स्थिरकर देह स्त्री पुत्र गृह आदि पदार्थोंको प्रभुकी सेवा करनेके लायक बनाना यही आत्मनिवेदन कहा जाता है।

१५. एवं नवविधा भक्तिः प्रेमात्मकभक्तिसिद्धये कर्त्तव्या। प्रेमलक्षणाया भक्तेः फलरूपत्वात् । "राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतमि" ति "अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रिय" इति भगवद्वाक्यात्। द्वितीयस्कन्धे "भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेदि"ति निर्णीतत्वात् । "प्रेमसेवात एव स्याद्विशिष्टव्यक्तिरुत्तमे"ति निबन्धवाक्याच्च।

१५. इस तरह यह श्रवणादि नवधाभक्ति, प्रभुमें प्रेमहो इसलिये अवश्य कर्तव्य है। क्यों कि इस नवधाभक्तिका फल प्रेमलक्षणाभक्तिही है। प्रभुने अपने श्रीमुखसे कहा है कि मेरी

प्रीति होना यही जीवको मोक्षसिद्धि है, और यही तत्ववेत्ताओंका सिद्धान्त है देहादिक पदार्थ मेरे लियेही अच्छे लगते हैं, इसलिये मुझमें प्रीति करै। द्वितीयस्कंधमेंभी कहा है कि 'ब्रह्माजीने एकाग्रचित्त होकर अपनी ऋतंभरा बुद्धिसे समग्रवेदको तीन दफे विचारकर यह निश्चय किया कि 'प्रभुमें प्रीति होना यही सर्वशास्त्रोंका सार है'। निबन्धमें श्रीमद्वल्लभाचार्यकीभी यही आज्ञा है कि प्रेमसेवा (प्रेमलक्षणाभक्ति) से ही अच्छी तरह प्रभुका साक्षात्कार होता है'।

१६. एवं सिद्धे प्रेमलक्षणायाः फलत्वे केन साधनेन सा स्यादित्याकाङ्क्षायां पूर्वोक्तनवविधभक्त्या सा सिद्ध्यतीत्यवधेयम्। "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या" "उद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिरि"त्यादिवाक्यात्। उक्तं च निबन्धे—"प्रेम च साधनम्। तत्साधनं नवविधा भक्तिरि"ति।

१६. इस तरह यह बात सर्वत्र शास्त्रोंमें स्पष्ट है कि प्रभुमें प्रेम होनाही फल है। यदि ऐसी आकांक्षा हो कि वह फल कौनसे साधनसे प्राप्त हो तौ कहना पडैगा कि मर्यादामें प्रभुप्रेमरूप फलका एकमात्र साधन श्रवणादि नवधाभक्ति है। भक्त्या सञ्जातया भक्त्या उद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि संजायते भक्तिः– 'भक्तिसे सिद्धहुई भक्तिद्वारा' 'हे उद्धव इसतरह आत्मनिवेदन करनेवालोंकी मेरेविषयमें भक्ति होती है' इत्यादि अनेक वाक्योंसे यह बात स्पष्ट है। निबन्धमें

श्रीमदाचार्यचरणने कहाभी है कि प्रभुके साक्षात्कारका प्रेम साधन है। और उस प्रेमका नवधाभक्ति साधन है।

१७. अन्यत्राऽपि "श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्य-मत्राऽव्यभिचारिहेतुः। प्रेमैव तस्मिन्नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयो-गोऽखिलसाधनानामि"ति।

१७. और विद्वानोंनेभी कहा है कि 'श्रीवल्लभाचार्यके मतमें फल प्रभुका साक्षात्कार है। प्रभुके प्राकट्यका असाधारण साधन अनन्यप्रेम है। और उस प्रेमका साधन नवधाभक्ति है। इस नवधाभक्तिमेंही यदि सर्व वर्णाश्रमादि धर्मोंका उपयोग हो तो उचित है'।

१८. अत एव श्रीवल्लभाचार्यमतानुवर्त्तिभिरियं नवधा भक्तिरनुष्ठीयते। तथाहि। श्रीभागवतश्रीमदाचार्योदितसुबोधिन्यादि भगवन्नाम च श्रूयते। श्रीभागवतभगवद्गीताभगवदीयविरचितसंस्कृतप्राकृतस्तोत्रादि पठ्यते। शरणसमर्पणमन्त्रभगवन्नामानि चाऽऽवर्त्यन्ते। तत्कीर्तनरूपम्। बृहद्बृन्दावनाद्यधिकरणकलीलाविशिष्टः श्रीकृष्णो जपसमयादिषु स्मर्यते। भगवन्मन्दिरमार्जनवस्त्रप्रक्षालनादिकञ्च पादसेबनरूपा भक्तिः। पञ्चामृतस्नानाधिवासनसङ्कल्पदेवोत्थापनमन्त्रादि नैमित्तिकं धूपदीपशङ्खोदकादिकं प्रात्यहिकं चाऽर्चनरूपा भक्तिः। इयं न पूजामार्गीया पूजा। भक्तिप्रकरणे पठितत्वात्। "भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत मामि"त्यादिवाक्यैः पूजाभक्त्योः पृथक्त्वावगमात्। वन्दनं

तु दैन्यरूपं स्पष्टम्। भगवदुपभुक्तशिष्टान्नवासस्स्रग्गन्धैको-
पजीवितानन्यगामित्वरूपं दास्यम्। "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध-
वासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां
जयेमही"ति वाक्ये दासधर्मतया तदुपभुक्तान्नादिग्रहण-
स्योक्तत्वात्।

१८. इसीलिये श्रीमद्वल्लभाचार्यमतानुवर्ति वैष्णवोंके यहां सर्वत्र यह नवधाभक्ति करनेमें आती है। सेवाके अनवसरोंमें श्रीभागवत, श्रीसुबोधिनी, तथा और भगवन्नामादिका श्रवण, यह श्रवणभक्ति होती है। ऐसेही अनवसरोंमें तथा सेवासमयमेंभी श्रीभागवत, श्रीसुबोधिनी, श्रीगीता, तथा औरभी भगवद्भक्तोंके विरचित संस्कृत तथा प्राकृत स्तोत्र कीर्तनोंका पाठ किया जाता है। नित्यनियमके समय शरण-मन्त्र, समर्पणमन्त्र, तथा भगवन्नामोंका पुनः पुनः आवर्तन करनेका सदाचार है। यह सब कीर्तनभक्ति है। जपसमय आदिमें महाबन, वृन्दाबन, अनेक लीलास्थलोंकी विविध-लीलाओंका तथा लीलाधाम श्रीकृष्णका स्मरण होता है। यह स्मरणभक्ति है। भगवन्मन्दिरमें सोहिनी प्रभृतिसे संमार्जन करना, वस्त्रोंका धोना, रंगना, इत्यादिसे लेकर मङ्गला आदि शयनपर्यन्त सब सेवा पादसेवन कहाजाता है। पञ्चामृत-स्नान, अधिवासन, सङ्कल्प, देवोत्थापन, तथा इन सबके मन्त्रो-च्चारण यह नैमित्तिक (उत्सवोंमे होते) तथा नित्य होते धूप दीप, शङ्खोदक आदि उपचार अर्चनरूप भक्ति है। यह पूजामार्गकी पूजा नहीं। क्योंकि यह सब भक्तिप्रकरणमें

कहीगई है। एकादशस्कंधमें कहा है कि 'जो इसतरह मेरा-भजन करना है वह भक्तियोगको प्राप्त होता है'। तो यहां पूजाको भक्तिका साधन बताकर पूजा और भक्तिमें स्पष्टही भेद कहा है। प्रभुमें दीनता रखना इसेही वन्दन कहते हैं। यह पुष्टिमार्गमें सर्वत्र स्पष्ट है। भगवत्प्रसादलेना, प्रसादी वस्त्र धारण करना, तिलकादिसे शिष्ट कुङ्कुमचन्दनादिसेही तिलक करना, अन्याश्रय न करना इत्यादि सब अनन्यगामि-रूप दास्यभक्ति वहभी पुष्टिमार्गमें प्रसिद्ध है। त्वयोपभु-क्तस्त्रग्गंध इत्यादि एकादशस्कंधके भगवद्वाक्यमें प्रभुप्रसादी वस्त्रान्नादिकाही ग्रहण करना इस आचारकोही दास्य कहा है।

१९. दिवा रात्रौ तत्तत्कालोचिततूलकञ्चुकचन्दनलेप-नाद्यर्पणं प्रातरारभ्योत्तमपक्वान्नपयोदधिमाहिषपयःशरसन्धा-ननवनीतादिविचित्रनैवेद्यनिवेदनं सख्यरूपा भक्तिरिति ज्ञेयम्।

इयं च पुष्टिमार्गीयैर्बहुधा सदैवाऽनुष्ठीयते। अस्यां हि वैधमन्त्रन्यासविधायकवाक्यनियमाभावः। एतदभिसन्धा-यैवोक्तं भगवता "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पत"इति।

इह यद्यदिति सामान्यनिर्देशान्न प्रातिस्विकरूपेण नोद-नापेक्षा। किन्तूत्तममनिषिद्धं भोग्यं पयोदध्यादि परिधेय-मम्बरादि लेप्यं चन्दनादि च यथादेशं यथाकालं भगवते समर्पणीयमित्युपदेशः। तथा सति प्रातिस्विकरूपेण विध्य-लाभेऽपि सामान्यविधिना क्रोडीकारान्नाऽविहितत्वदोषः।

इष्टतममिति तमब्ग्रहणेनाऽनिष्टासम्भिन्नमिष्टमादेयम् । अनिष्टासम्भिन्नत्वं तु लोकवेदाद्यगर्हितत्वम् । अत एव लोके सुस्वादुत्वेन प्रशस्तस्याऽपि कलञ्जस्य नाऽर्पणम् । "न कलञ्जं भक्षयेदि"ति निषेधेनेष्टतमत्वप्रतिरोधात् । वृन्ताकादेर्निषिद्धत्वेऽपि व्यवस्थापकवचनान्तरेणाऽनिषिद्धत्वाल्लोकेऽपि स्वादिष्टत्वेनाऽभ्यर्हितत्वान्निवेदनम् । मूलकादेर्व्यवस्थापकवाक्यान्तरेण वृन्ताकसमकक्षत्वेऽपि न भगवदर्पणम् । दुरुद्गारत्वादिना लोके गर्हितत्वात् ।

१९. शीतकालमें प्रभुको दिवसमें गद्दर तथा रात्रिमें रजाई धराना, उष्णकालमें चन्दन, गुलाबजल आदिका अर्पण करना, तथा प्रातःकालसे लेकर सायंपर्यन्त, समय समय पर ऋतुके अनुकूल सत्तु, उत्तम पकवान, पना, दुग्ध, दधि, सधाना, माखनमिश्री आदि लोकप्रिय उत्तम पदार्थोंका प्रभुके भोगादिमें पधराना यह सब 'सख्य' रूप भक्तिभी श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटित पुष्टिमार्गमें करनेमें आती है । अप्रेरित हिताचरणही 'सख्य' कहलाता है । इसीलिये सब करते समय किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं । किंवा चन्दन आदि समर्पण करते समय कोई मन्त्रादि नहीं बोले जाते । यही आशय एकादशस्कंधके प्रभुके वचनमेंभी है ।

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥

जो जो वस्तु लोकमें लोकवेदादिसे अगर्हित हों, तथा जो अपने आपको अतिप्यारे लगते हों, वह सब उत्तम तथा

अनिषिद्ध भोज्य पय दधि, धार्य वस्त्रादि, लेप्य चन्दनादि, यथाकाल मेरे अर्पण करै। यह प्रभुका उपदेश है । यहां 'यत् यत्' तथा 'लोके' इत्यादिपद देकर यह दिखाया है कि इस सख्यभक्तिमें किसी विधिकी अपेक्षा नहीं तथा वस्तुओंका अलग अलग नाम कहनेकीभी अपेक्षा नहीं। किन्तु लोकप्रकृतिके अनुसार उत्तम और प्रियपदार्थोंका मेरे अर्पण करना इतनामात्र ज्ञेय है। इसीलिये यद्यपि क्या क्या अर्पण करना यों अलग अलग नाम नहीं कहे तथापि 'यत् यत्'की गोदमें सब वस्तुओंको लेलिया है इसलिये अविहितरूप दोषभी न रहा। 'इष्टतमं' कहनेसे यह मालुम पडता कि लोकवेदसे अनिन्दित पदार्थकाही प्रभुको समर्पण करना यह आज्ञा है। अतएव लोकमें स्वादु कहलाताभी तरबूज प्रभुके भोगमें नहीं आता। क्यों कि वेदमें 'न कलञ्जं भक्षयेत्' तरबूज खानेका निषेध किया है । और शास्त्रनिषिद्ध होनेसेही तरबूजमें इष्टतमत्व नहीं है। यद्यपि वृन्ताक (बेंगन) भी निषिद्ध पंक्तिमेंही कहा है तथापि व्यवस्थापक 'वृन्ताकं श्वेतवृन्ताकं' वचनसे कृष्णवृन्ताक ग्राह्य है यह सिद्ध है। और लोकमें वह अतिप्रिय गिना जाता है। इसलिये प्रभुके निवेदन किया जाता है। मूलीभी यद्यपि व्यवस्थापक वचनसे शास्त्रमें अनिषिद्ध है, तथापि उसके पाक समयमें बुरी डकारें आती हैं, इसलिये भोगमें नहीं आती।

२०. तदेवं लोकवेदाऽदूषितमुत्तमं भगवते समर्पणीयमिति सिद्धम् । तथोक्तं निबन्धे—"यद्यदिष्टतमं लोके

यच्चाऽतिप्रियमात्मनः । येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत्कृष्णे साध-
येद् ध्रुवमि"ति । अतो यल्लोकवेदाद्यगर्हितं लोकेष्टं यच्च शास्त्र-
द्वारा भगवत्प्रियत्वेनाऽवगतं तत्कृष्णायाऽर्पणीयमिति सख्य-
भक्तिस्वरूपमवधेयम् ।

२०. इसतरह यह सिद्ध हुआ कि लोकमें तथा वेदमें जो पदार्थ अदूषित हैं उन्हेंही प्रभुके अर्पण करे । यही तत्वदीपनिबन्धमें कहा है—

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत्कृष्णे साधयेद्ध्रुवम् ॥

अर्थात्—जो वस्तु लोकवेदसे अनिन्दित, और लोकमें प्रिय मानी हो, तथा जो शास्त्रके द्वारा प्रभुप्रिय कहीगयी हो वह सब प्रभुके अर्पण करने योग्य है । और यही सख्यभक्तिके अनुरूप है ।

२१. तथोक्तं सुबोधिन्याम्—"हरिण्योऽप्सरसो गाव" इति सन्दर्भे मेघभावनिरूपणे—"उत्कर्षश्चाऽपि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि । भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिते"ति ।

अर्थस्तु—हरेः सर्वदुःखहर्त्तुरपि यदि हरिः सर्वदुःखहर्ता स्यात्तदा तस्मिन्पुरुषे वैराग्योत्कर्षो ज्ञेयः । यत इदं वैराग्यकार्यम् । मोक्षान्तफलेषु रागाभावे प्रभुसुखैकाकाङ्क्षायामेतादृग्भावोदयात् । स भावः कथं स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः—भक्त्या चेत्यादि । स्नेहेन तादृशत्वं भगवद्दुःखहर्तृत्वस्वभावः स्यादित्यर्थः । उपदिशन्ति—सा सेवेत्यादि ।

सा मेघकर्तृका सेवा भगवद्दुःखहरणरूपा सेवकस्य पुष्टिस्थस्य उचिता कर्तव्येत्यर्थः। इयं च सख्यरूपा। "सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रमि"ति वाक्यात्।

२१. श्रीसुबोधिनीजीके 'हरिण्योऽप्सरसो गावः' इस प्रकरणमें श्रीमद्वल्लभाचार्यने मेघ[1]की भक्ति वर्णन करते समय आज्ञा की है कि—

उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि।
भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिता॥

अर्थात्—जो भक्त अपनी सेवासे प्रीतिसे सर्व दुःखहर्ता प्रभुकेभी सब दुःखोंको दूर करै उसका सर्वत्र वैराग्य है यह निश्चय है। प्रभुमें गाढस्नेह हो और अन्यत्र किसी पदार्थमेंभी आसक्ति हो नहीं तौ उस समय प्रभुका थोडाभी दुःख सहन भक्तको नहीं होता। इसलिये वह सेवक प्रभुके दुःख निवारणका सर्वतः प्रयत्न किया करता है। अतएव समझना कि ऐसे भक्तमेंही वैराग्यका परम उत्कर्ष है। यह सब बातें प्रभुमें प्रगाढस्नेह होनेसे होतीं हैं। जैसे वृन्दावनमें गोचारण कराते समय मेघने अपने शरीरसे प्रभुका आतप दूर कर सेवा की। इसीतरह प्रभुके अणुमात्रभी दुःख दूर करता रहकर जो भक्त प्रभुकी सेवा करै वह भक्ति सर्वथा सेवकके योग्य है। यह भक्तिही सख्यके अनुरूप है। यह श्रीमद्भागवतमें दशमस्कंधमें कहा है कि—

'सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रम्।

---

[1] 'दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून्' इस श्लोककी सुबोधिनीजीमें।

२२. तथापि सर्ववस्तूनां लोकवेदाद्यगर्हितत्वं प्रभुप्रियत्वं चाऽऽकलयितुमशक्यमतो मार्गप्रवर्त्तकाचार्यतनुजपद्धत्या भगवान् सेवितव्यः। "आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती"त्येकादशवाक्यात्। "साधूनां समयश्चाऽपि प्रमाणं वेदवद्भवेदि"ति। साधवो हि स्वयं कृतार्थीभूय परान् कृतार्थयन्ति। तदुक्तं दशमस्कन्धे गर्भस्तुतौ—"स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः। भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवानि"ति। इह सदनुग्रहो भवानित्यनेन भगवतः सत्पुरुषविषयकानुग्रहवत्त्वात्तदुक्तपथा (?) प्रचरतः प्रभुः कृतार्थयतीत्यर्थः सिद्ध्यति। अतः पूर्वोक्तं सुस्थम्।

२२. यद्यपि इसतरह सर्वत्र शास्त्रमें 'लोकवेदसे अगर्हित पदार्थ प्रभुके अर्पण करे' ऐसा उपदेश प्राप्त होता है, तथापि मन्दमध्यमाधिकारियोंको कौन वस्तु अगर्हित है, और कौन प्रिय है, यह मालुम पडना अशक्य है, इसलिये मार्गप्रवर्तक मूल आचार्यचरणने प्रभुप्रिय और लोकवेदसे अगर्हित सेवाकी एक रीति बनारक्खी है। इसरीतिके अनुसार प्रभुकी सेवा करना सर्वोत्तम है।

लोकोद्धारके लिये भगवान् स्वयं आचार्यस्वरूपसे अवतार धारण करते हैं। अपने उपदेश तथा आचरणोंद्वारा जनताको सन्मार्गमें प्रवृत्त कर उन्हे श्रेयःप्राप्ति कराते हैं। इसीलिये शास्त्रमें कहागया है कि 'सत्पुरुषोंकी वचनमर्यादा किंवा आचरणमर्यादा वेदकी तरह प्रमाण है,

'आचार्य चैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' 'साधूनां समयश्चाऽपि प्रमाणं वेदवद्भवेत्'।

सत्पुरुष बडे दयालु होते हैं। वे स्वयं कृतार्थ होकर अपने मार्गद्वारा औरजीवोंकोभी कृतार्थ करते हैं। संसार दुस्तर समुद्र है। इससे पार होनेके लिये सन्मार्ग नौका है। और स्वयं आचार्य पार पहुंचानेवाले केवट हैं। जब आप पार हो चुकते हैं तो दयाकर सन्मार्ग नौकाको यहांही छोडजाते हैं। जिसके द्वारा अनंत जीव इस दुस्तर संसारके पार होते हैं। श्रीमद्भागवतके दशमस्कंधमें श्रीदेवकीके गर्भकी स्तुति करते समयमें ब्रह्माजीनें कहा है कि—

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्।

'हे सर्व प्रकाशक! गोविन्द! यह संसारसमुद्र अतिकष्टसेभी तरा नहीं जा सक्ता। अतएव बडा भयंकर है। किन्तु वे आचार्यलोक बडे दयालु हैं। जो इससे पार होनेके लिये आपकी चरणसेवारूप नौकाको यहांही स्थापित करगये। मालुम पडता है कि आप इसीतरह गरीबोंपर सत्पुरुषोंद्वाराही अनुग्रह करते हो'।

यही 'सदनुग्रहो भवान्' 'सत्पुरुषोंके द्वारा प्रभु अनुग्रह करते हैं' इस वाक्यसे स्पष्ट मालुम पडता है कि उनके बताये सन्मार्गसे जो चलते हैं प्रभु उनको कृतार्थ करते हैं।

२३. एतत्सेवासरणौ मन्दिरमार्जनवस्त्रप्रक्षालनादयः पादसेवनरूपाः । पञ्चामृताद्युपचारा अर्चनभक्त्यात्मकाः स्नेहविलक्षणाः । तथा विचित्रवासोलङ्कारनैवेद्यार्पणादयः सख्यभक्त्यात्मकाः । एतद्भक्तित्रयबहुला सेवनरीतिरिति दिक् ।

देहेन्द्रियान्तःकरणानि स्त्रीपुत्रगृहाप्तवित्तानि प्रभुसेवैकोपयोगीनि क्रियन्ते तन्निवेदनरूपा नवमी भक्तिः ।

२३. इतना फिर समझाना पडता है कि सेवामार्गमें मन्दिरमार्जन, वस्त्रप्रक्षालन, आदि सेवा पादसेवनभक्ति है । और पञ्चामृतस्नान, संकल्प, अधिवासन आदि उपचार, ये सब स्नेहसे जुदे (न कि विरुद्ध) अर्चनभक्तिरूप हैं । तथा स्नेहानुकूल अनेक तरहके वस्त्र आभूषण, भोग राग, आदिसेवा सख्यभक्ति है । बस इस तीन तरहकी भक्तिमेंही बहुत करके सर्व सेवारीतिका समावेश होरहता है ।

और देह इन्द्रिय अन्तःकरण तथा स्त्री पुत्र गृह मित्र धन आदिको प्रभुके उपयोगमें लाकर प्रभुकी सेवाके लायक बनाना अर्थात् इन सबका प्रभुसे सम्बन्ध कराना यह आत्मनिवेदनरूप नवमभक्ति है ।

२४. तथोक्तमेकादशस्कन्धे योगीश्वरप्रसङ्गे कविना—

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात् । करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।"

अस्याऽर्थस्तु प्रभुचरणैर्व्याख्यातः । बोधसौकर्याय तद्-

नुसारेणेहाऽपि लिख्यते । कायादिकृतं पूजानामग्रहणस्मरणादि फलान्तरापेक्षाराहित्येन भगवदर्थं चेद्विनियुक्तं तदा स भागवतो धर्मः । तत्र न केवलं विहितमेव कायादिकृतं भगवत्यर्पितं सत् भगवद्धर्मः । किन्त्वनुसृतस्वभावात्साहजिकप्रकृतेः कृतं लौकिकमपि भगवदर्पितं सत् भगवद्धर्मो भवतीत्यर्थः । इन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि वाङ्मनसोर्विशिष्टकार्यमादाय पृथग्ग्रहणम् । नारायणायेति निमित्ते चतुर्थी । अनुसृतस्वभावात्कायादिना यत्करोति विधिबलाच्च यत्करोति तत्सर्वं नारायणाय समर्पयेत् । नारायणार्थमनिषिद्धं स्वाभाविकं वैधं च कुर्यादित्यर्थः ।

तथा सति ब्राह्ममुहूर्त्तमारभ्य वैधक्रियालौकिकक्रिये भगवदुपयोगिबुद्ध्यैव कार्ये । एवं सत्युपरुद्धेन पूजादिकरणेऽपचारः स्यादिति तन्निवृत्तये मूत्राद्युत्सर्गो न तु शरीरनिर्बन्धाभावमुद्दिश्य । पाकाद्युपयोगिवागादिव्यापारोऽपि पाकादेर्भगवद्भोगसाधकत्वेन । यथाऽन्यानि पूजोपकरणानि रक्ष्यन्ते तथा स्वदेहस्याऽपि परिचर्यासाधकत्वेन रक्षा । स्त्रीपुत्रादेरपि सेवासाधनतया पोषणं न तु रागेण । परिचर्यानुपयुक्तपितृमात्रादेः पोषणं पापापकीर्तिभयजनितप्रभुसेवाशैथिल्याभावाय । एवं निद्राऽपि तदभावकृतशरीरालस्यरूपपूजाप्रतिबन्धनिवृत्तये न तु सुखार्थमित्याद्यूह्यम् ।

अनयैव रीत्या सर्वं लौकिकव्यवहारजातं भगवत्पर्यवसितं कर्त्तव्यम् । स भागवतो धर्मो भवतीति श्लोकार्थः फलितः ।

२४. एकादशस्कंधमें योगश्वरप्रसंगमें कहा है कि

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

श्रीप्रभुचरणने इस श्लोकका अर्थ किया है। उसके अनुसार यहां लिखना उचित है।

'शरीर मन वचन बुद्धि आत्मा किंवा प्रचलित स्वभावसे जो कुछ जीव करै वह सब इसतरह श्रीनारायणके अर्पण करै'।

किसी और फलकी आकांक्षा न रखकर शरीर आदिसे जो कुछ पूजा नामग्रहण अथवा स्मरण आदि अनिषिद्ध किया जाय वह यदि प्रभुके विनियोगमें आवै तो वह कर्म भागवत धर्म कहा जाता है। कर्म दो प्रकारके हैं। एक विहित और दूसरे अविहित (रागसे प्राप्त) यहां जो शास्त्रविहित कर्म शरीरादिसे किये जाते हैं उन्हेही प्रभुके निमित्त करना, किंवा वेही भगवद्धर्म कहें जांय, इतनाही तात्पर्य नहीं है किन्तु 'अनुसृत स्वभावात्' इस पदके अनुसार यहभी तात्पर्य है कि 'स्वभावसे प्राप्त अपनी प्रकृतीके अनुसार जो भोजन पाणिग्रहण आदि लौकिक कर्म किये जांय, उन्हे भी यदि प्रभुके अर्पण करै, अर्थात् उन्हे भी यदि प्रभुके निमित्त करै तो वे भी भगवद्धर्मही कहे जांयगे। नारायणाय यह चतुर्थी निमित्त अर्थमें है।

तौ श्लोकका सम्पिण्डित अर्थ यह हुआ कि 'अपने स्वभा-

चके परवश होकर शरीरादिसे जो भोजनादि कर्म करै उन्हें, तथा शास्त्राज्ञाके परवश होकर शरीरादिसे जो संध्यावन्दनादि कर्म करै उन्हे भी श्रीनारायणकेही निमित्त करै। अर्थात् स्वभावसे वा शास्त्रसे जो अनिषिद्ध कर्म करै वे सब प्रभुके लिये ही करै न कि अपने स्वार्थके लिये।

कहनेका आशय यह है कि—रात्रिके अन्तिमभाग सवा दो २। घडी रात्रिसे लेकर दूसरी रात्रिको सोनेपर्यन्त लौकिक किंवा शास्त्रोक्त जितनी क्रिया करै वे सब 'भगवानकी सेवाके उपयोगमें आती हैं' यह समझ करही करै। किन्तु इस कर्मसे मैं सुखी होऊंगा यह समझकर न करै। जब यह बात सिद्ध हो चुकी तौ यह स्पष्ट हैकि मलमूत्राद्युत्सर्गभी प्रभुके अपराधके भयसे करै किन्तु इससे मेरा शरीर सुखी रहैगा इत्यादि अपने सुखके लिये न करै। यदि रसोई प्रभृतिके बंदोबस्त करने प्रभृति कार्यमें किसी भृत्य प्रभृतिसे बोलचाल करनी पडै तो वहभी प्रभुके भोगरूप सेवाके लिये करै। क्योंकि वागादिव्यापारके विना भोगादि सिद्ध नहीं हो सक्ते। जिस तरह प्रभुकी सेवामें काम आनेवाले अन्य पदार्थोंकी सावधान होकर रक्षा करता है, इसी तरह भगवद्भक्तको उचित है कि केवल प्रभुकी सेवाका उपयोगी है योंही समझकर अपने देहकीभी रक्षा पोषण आदि करै। स्त्रीपुत्रादि भी प्रभुकी सेवाके कार्यमें आते है यह समझकरही उनकीभी रक्षा पोषण आदि करै। किन्तु यह मेरे कामकी वस्तु है यों अपने स्नेहसे उनका पोषण न करै। यदि माता पिता आदि

मान्य पुरुष सेवाके कार्यमें न आसक्त हों तौ उनकीभी रक्षा करै। और यथावत् आज्ञा मानै। क्योंकि अन्यथा इस लोक में अकीर्ति और परलोकमें पाप होगा, और उससे ऐसा न हो कि मुझे प्रभुकी सेवामें किसी तरह शैथिल्य वा उदासी-नता हो जाय। बस इसी हेतुसे उनकी सेवा करै।

इसी तरह निद्राभी। अर्थात्—यदिमें न सोऊंगा तौ प्रभु-सेवा करते समय आलस्य आवैगा और अनेक अपराध होने की संभावना रहैगी, यों पूजा प्रतिबन्ध दूर होनेके लिये किंवा प्रभुके लियेही शयनादि व्यापार करै, न कि अपने स्वार्थकी आकांक्षासे। इस तरह समग्र लौकिक वैदिक व्यवहार इस रीतिसे करै कि वे सब प्रभुमेंही जाकर पहुंचे। तब वे सब लौकिक किंवा वैदिक कर्मभी भागवत धर्म कहलाते हैं।

२५. अत एव भगवतोक्तम् "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणमि"ति। इह यत्करोषि यदश्नासीत्यनेन सामान्यग्र-हणादुपलक्षणविधया लौकिकक्रियाणां सर्वासां ग्रहणम्। यज्जुहोषीत्यादिना वैधक्रियामात्रस्य। तथाच लौकिकवैदिक-क्रियामात्रं मदर्पणं यथा स्यात्तथा कुरुष्वेति भगवदभिप्रायः। प्रभ्वर्पणं तु पूर्वोक्तरीत्यैव भवतीति ज्ञेयम्। अयमेव निवेदनपदार्थः। अत इयं निवेदनरूपा भक्तिः परमभा-ग्यभाजां श्रीकृष्णानुग्रहविशेषवतामेव सिद्ध्यतीति सहृदयै-र्विभावनीयम्।

२५. इसीलिये गीता उपनिषत्में प्रभुने आज्ञा की है कि-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९-२७ ।

हे अर्जुन! जो तू करता है, जो भोजन करता है, जो हवन करता है, जो दान करता है, तथा जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। यहां 'करोषि' और 'अश्नासि' इन दो क्रियाओंसे लौकिक क्रिया मात्र ग्रहण कर लेना चाहिये। तथा 'जुहोषि' आदि क्रियाओंसे वेदशास्त्रोक्त वैध क्रियायें ग्रहण करनी चाहियें। तो समुच्चित अर्थ यह हुआ कि 'हे कुन्तीपुत्र! अर्थात् हे मेरे भक्तपुत्र! इस युक्तिसे लौकिक और वैदिक क्रियाओंको कर, जैसे वे सब मुझमें आकर समर्पित हों। बस सर्वत्र कर्म समर्पणका यही तात्पर्य है। और वास्तवमें क्रियाओंका समर्पण इसीतरह हो सक्ता है। और इसेही 'निवेदन' कहते हैं। जिन महापुरुषोंपर प्रभुकी कृपा होती है उन्हेही यह निवेदनरूप भक्ति सिद्ध होती है यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये।

२६. तथाच सिद्धमेतत्। कोविदैर्भगवदङ्गीकृतैर्निरन्तरमाचरणीया भगवद्भक्तिः। "तं ध्यायेत्तं भजेदि"ति "परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती"त्यादिश्रुतेः। "भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य" इत्येकादशवाक्यात्। "अहं भक्तपराधीन" इत्यारभ्य "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्येति" नवमस्कन्धे भगवद्वाक्याच्च। "भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति

कर्हिचित् स्म न भक्तियोगमि"त्यादिवचस्सहस्त्रैर्मोक्षाधिक-त्वाच्चेत्यलं विस्तरेण ।

इति श्रीगोवर्द्धनधरश्रीवल्लभाधीशश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
श्रीलालूभट्टोपनामकदीक्षितश्रीबालकृष्णभट्टेन विरचितायां
सेवाकौमुद्यां प्रथमं प्रकरणम् ॥ १ ॥

२६. यहांतक ग्रन्थसे यह सिद्ध हुआ कि समझदार, और जिनका प्रभुने अङ्गीकार किया है उन वैष्णवोंने यह नवधा-भक्ति अवश्य करनी चाहिये । श्रुतिऐं कह रहीं हैं कि—

'तं[1] ध्यायेत्तं भजेत्' 'परंब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति' ।

एकादशस्कंध तथा नवमस्कंधमें स्वयं श्रीकृष्णने आज्ञा की है कि–'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य' 'मुख्य, में भक्तिसे ही दर्शन देता हूं' तथा 'अहं भक्तपराधीन' यहांसे लेकर 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या' यहांतक यह कहा है कि 'में भक्तोंके परवश हूं' । 'भक्त लोग मुझे अपने स्नेहसे वशमें करलेते हैं' । विशेष क्या कहें यहांतक कहा है कि 'भगवान् भजनकरनेवालोंको मुक्ति कदाचित् दे दें, किन्तु भक्ति किसी तरहभी नहीं देते' । इसतरह सहस्त्रशः वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि जीवको मोक्षसे भी अधिक पुरुषार्थ यदि है, तो भक्तियोग ही है ।

इसतरह यह प्रथम सेवा प्रकरण समाप्त हुआ ।

---

१ 'यस्य देवे परा भक्तिः' इत्याद्याश्च बहुशः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीलाल्लूभट्टोपनामकदीक्षितश्रीबालकृष्णभट्टप्रणीता।

सेवाकौमुदी ।

भाषान्तरसहिता ।

द्वितीयप्रकरणम् ।

श्रीगोवर्धनधारी तनोतु मङ्गलानि ।

१. एवं पूर्वप्रकरणे भागवतमूलिका पुष्टिभक्तिमार्गीया सेवेति निरूपितम् । अथ तादृशसेवाया विषयो निर्द्धार्यते। तत्र श्रुत्यादिप्रमाणचतुष्टयेन परमकाष्ठापन्नं निर्गुणं ब्रह्मैव विषय इति सिद्धान्तः ।

१. पूर्व प्रकरणमें 'पुष्टिभक्तिमार्गकी सेवापद्धति श्रीमद्भागवतसे निकली है, श्रीमद्भागवत इसका मूल प्रमाण है' यह निरूपण करचुके । अब यह सिद्ध करना है कि सेवाका विषय कौन है । जो कृति वा स्नेहका गोचर हो उसे 'विषय' कहते हैं । अर्थात् जिसकी सेवा कीजाय वह सेवाका विषय है । वास्तवमें श्रुति स्मृति सूत्र श्रीभागवत आदि शास्त्रोंसे तो यही सिद्ध होता है कि 'सर्वोत्तम प्राकृत गुणरहित पर ब्रह्म (श्रीकृष्ण) ही जीवोंको सेवा करने योग्य है ।

२. न च "यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादिनिगमैः सर्वाविषयस्य कथमिव सेव्यत्वमिति वाच्यम्। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानि"त्याद्यनुपदमुक्तश्रुत्या विषयत्वे प्राप्ते उभयाविरोधाय लौकिकवागाद्यविषयत्वस्य भगवत्कृपादिना वाङ्मनसादिविषयत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्। अन्यथा सर्वथैव ज्ञानाविषयत्वे वेदेनाऽपि निरूपणं न स्यात्। तथा सति ब्रह्मणोनिर्विशेषत्वाप्रतर्क्यत्वानिर्देश्यत्वादिरूपस्याऽप्यनवबोध आपद्येत। बोधस्य "अथात आदेशो नेति नेती" त्यादिश्रुत्यधीनत्वात्। इदं च "ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्य" इति दशमस्कन्धीयश्लोकसुबोधिन्यां स्फुटतरमुपपादितम्।

"यत्र वेदा अवेदा" इत्यादिज्ञातृत्वनिषेधकोपनिषदामपीदमित्थतया वर्णनाशक्तिरेव तात्पर्यविषय इति मन्तव्यम्। "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादि"त्यधिकरणव्याख्यानेऽयमर्थो भाष्यकारैर्विवेचितः। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"ति श्रुतिरतिरोहितमेनं राद्धान्तं द्रढयति।

२. यहां यह प्रश्न होता है 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियोंसे जब यह मालुम पडता है कि 'परब्रह्ममें मन और वाणी नहीं पहुंचती' तो फिर ऐसेकी सेवा भी किसतरह की जाय।

तो इसके उत्तरमें इतनाही कहना है कि 'ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला जो विद्वान् वह भयरहित होता है' इस श्रुतिमें ब्रह्मको ज्ञानका विषयभी कहाहै। इसलिये ब्रह्मके विषयपनका निषेध करनेवाली तथा विषयपनका

विधान करनेवाली दोनों तरहकी श्रुतियोंका विरोध हटानेके लिये एक व्यवस्था कीहै कि, ब्रह्म यद्यपि लौकिक मन और वाणीका अविषय है तथापि उसकी ही कृपासे वह विषयभी होता है । यदि उसे सर्वथा ज्ञानका अविषयही (समझमें न आने लायक) मानोगे तौ वेदसे भी उसके निरूपणका निषेध करना पडैगा । और इसतरह माननेसे तौ 'ब्रह्म अनिर्देश्य है, अप्रतर्क्य है, निर्विशेष है' इत्यादि मन्तव्यभी अप्रामाणिक हो जांयगे । 'ब्रह्म अज्ञेय है' इत्यादि ज्ञानभी वेदसे ही होता है इसलिये 'ब्रह्म किसीका विषय नहीं' यह मन्तव्य तौ ठीक नहीं । दशमस्कंधके 'ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये' इस श्लोककी श्रीसुबोधिनीमें यह बात स्पष्ट कही है ।

'यत्र वेदा अवेदा' 'जिस ब्रह्मके वर्णन करनेमें वेदभी अवेद होते हैं' यह श्रुतिभी ब्रह्मके सम्पूर्ण वर्णनकाही निषेध करती है न कि वर्णनमात्रका, यह मानना पडैगा । 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' इस सूत्रमें भाष्यकार श्रीमद्वल्लभाचार्यने निषेधक वाक्योंकी यही व्यवस्था की है । वेदमें 'ब्रह्म, अनुमानादि प्रमाणोंसे नहीं जाननेमें आता' यह कहकर आगे कहा है कि 'मैं केवल उपनिषदोंसे जाननेलायक पुरुषको पूछता हूं' । तौ यहां यह स्पष्ट हो चुका कि 'ब्रह्म अज्ञेय भी है और ज्ञेय भी है।

३. किञ्च । शुद्धब्रह्मणोऽन्याज्ञेयत्वेऽपि वेदज्ञेयता त्वङ्गीकार्य्या । अन्यथा निर्विशेषत्वनिराकारत्वनिर्द्धर्मकत्वा-

दीनपि कथं वेदो वदेत् । अज्ञात्वा कथने त्वस्मदादिवाक्यतुल्यतापत्तौ तदुक्तनिर्विशेषत्वादेरनादरणीयत्वमिति दिक् ।

एवमेवाऽस्थूलादिश्रुतयो लौकिकधर्मानेव निषेधन्ति । न न त्वलौकिकान् । "अणोरणीयानि"त्यादिश्रुतिभिरलौकिकाणुत्वादिदर्शने तथाऽवधारणात् । "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः" "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" "सर्वकामः सर्वगन्ध"इत्यादिश्रुत्युक्ता अलौकिका नित्या धर्माः परमात्मनि विराजन्त एव । प्राकृतधर्माणामेव वेदे निषेधः । सर्वथा निर्द्धर्मकत्वं तु नोररीकार्यम् । तथा सति व्यापकत्वस्याऽप्यनङ्गीकारापत्त्या ब्रह्मत्वस्यैव हानेः । "बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मे"ति श्रुतौ व्यापकत्वेन निर्वचनात् ।

३. भलें, ब्रह्म दूसरे प्रमाणोंसे समझमें न आवै किन्तु वेदने उसे जाना है, यह तौ स्वीकार करनाही पडैगा । यदि 'वेदने उसे सर्वथा नहीं जाना' ऐसा मानोगे तौ 'ब्रह्म है, और वह अनिर्देश्य है, निराकार है, निर्धर्मक है, इत्यादिभी वेद कैसे कह सकैगा । जो बात वेदने जानीही नहीं उसे वह कैसे कह सकैगा ।

एक बात हम पूछते हैं कि वेद, ब्रह्मका वर्णन समझकर करता है कि बिना समझे ? । यदि 'जानकर करता है' कहो तौ ब्रह्म, वेदज्ञानका विषय हुआ । और यदि 'बिना समझे करता है' कहो तौ फिर जैसे हमारे तुह्मारे

अज्ञोंके वचन अप्रमाण गिने जाते हैं इसी तरह वेदभी अप्रमाण गिना जायगा । और जब अप्रमाण होचुका तौ उसके कहे 'अनिर्देश्यत्वादि' वचनोंका कौन आदर करैगा ।

इसीतरह कहना पडैगा कि 'अस्थूलमनणु' आदि श्रुतियांभी ब्रह्मके लौकिक धर्मोंका ही निषेध करती हैं। किन्तु अप्राकृतधर्मोंका निषेध नहीं करतीं । क्यों कि 'अणोरणीयान्' इत्यादि श्रुतियोंसे यह निश्चय होता है कि ब्रह्ममें अलौकिक अणुत्व आदि धर्म तो हैं ही । 'जो सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है' 'जिससे यह जगत् पैदा होता है' 'जो सबको वशमें रखनेवाला और सबका ईश्वर है' 'श्रीकृष्ण सर्व प्रधान हैं, सबको वशमें रखनेवाले हैं, सर्व व्याप्त हैं, और सबके स्तुति करनेलायक हैं' 'वह सब तरफ चक्षुवाला और सब तरफ मुख रखनेवाला है' 'वह सर्वकाम और सर्वगन्ध है' इत्यादि अनेक श्रुतियोंद्वारा कहे अलौकिकधर्म तो ब्रह्ममें सदा विराजमान रहते हैं । प्राकृत धर्मोंकाही वेदमें निषेध आता है । 'ब्रह्म सर्वथा निर्धर्मकही है' यह तो किसीतरह स्वीकार कर नहीं सक्के । अन्यथा व्यापकत्व आदि धर्मोंकेभी स्वीकार करनेमें बडी अडचल आ गिरैगी । 'बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्म' इत्यादि श्रुति उसे व्यापक धर्मवाला कहती है और आप उसे निर्धर्मक मानते हो यह वेदका प्रत्यक्ष विरोध आवैगा ।

४. न च व्यापकत्वं स्वरूपानतिरिक्तो धर्म इत्यस्तु तदङ्गीकार इति वाच्यम् । धर्मत्वव्याहतेः । "प्रकाशाश्रय"

न्यायेन व्यापकत्वस्वीकारे तु तयैव सरण्या कर्तृत्वादीनप्यङ्गीकुर्वन्तु । न च कर्त्तृत्वस्य कार्यसापेक्षतया नित्यत्वाभावान्न ब्रह्मधर्मतेति वाच्यम् । व्यापकत्वस्याऽपि व्याप्यसापेक्षतया समकक्षत्वात् ।

४. यदि कहो कि 'व्यापकत्व तो ब्रह्मका स्वरूपही है धर्म नहीं । इसके स्वीकार करनेमें कुछ हानि नहीं' । तौभी उचित नहीं । क्यों कि ऐसा करनेसे व्यापकत्व यह धर्मही नष्ट हो जायगा । यदि कहो कि 'जैसे प्रकाश, यद्यपि धर्म है तथापि वह दीपरूप है । इसलिये दीपसे जुदा नहीं । इसीतरह व्यापकत्व यद्यपि धर्म है तथापि ब्रह्मसे जुदा नहीं' । तो फिर महाशय कर्तृत्व आदि धर्म माननेमें इतना विरोध क्यों करते हो । उन्हेभी 'प्रकाशाश्रय' न्यायसे स्वरूपभूतही मानो ।

यदि कहो कि 'कर्तृत्व धर्म, कार्यकी अपेक्षा रखता है, इसलिये अनित्य है' । तो फिर हमें कहना पडेगा कि व्यापकत्वभी व्याप्य पदार्थोंकी अपेक्षा रखता है इसलिये समान है । इसलिये धर्म निषेध मात्र, लौकिक धर्मोंके ही हैं किन्तु ब्रह्मके अप्राकृत धर्मोंका कहीं निषेध नहीं है ।

५. अतो निषेधानां विशेषपरत्वं न सामान्यपरतेति ध्येयम् । "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनामि"ति सप्तमस्कन्धवाक्ये लौकिकदेहेन्द्रियादीनां निषेधेन निषेधस्य विशेषपरतायाः व्यासचरणैः प्रदर्शितत्वाच्च । इह वाक्ये

सामान्यनिषेधाङ्गीकारे "सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चस" इति वाक्यान्तरविरोधात् ।

५. वेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतके सप्तमस्कंधमें प्रथमाध्यायमें 'देहेन्द्रियासु' इत्यादि श्लोकमें कहा है कि 'हे ब्रह्मन् वैकुण्ठपुरवासी जन तौ देह इन्द्रिय प्राण आदिसे रहित हैं फिर उनको शाप होना और उनका हिरण्याक्ष आदिरूपसे जन्म लेना बडा आश्चर्यकारक है'। श्रीनारदसे युधिष्ठिरके इस प्रश्नमें वैकुण्ठादि दिव्य लोकमें देहेन्द्रियादिका निषेध किया है, पर यह निषेध प्राकृत देहेन्द्रियादिकोंका ही है, अलौकिक देहेन्द्रियादिकोंका नहीं । अन्यथा 'सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः' इत्यादि अनेक वचनोंमें यह कहचुके हैं कि 'भगवद्धाममें भगवत्पार्षदोंके चार भुजा हैं। उनके कंठादि अंगोंमें हीरा जडे सुवर्णके आभूषण हैं' ।

अब यदि निषेधोंको सामान्य निषेधही मानलें तौ यह विरोध आवैगा कि नहीं। इसलिये यह सिद्ध है कि निषेध, प्राकृतत्वविशेषको लेकरही किया है। इसीतरह ब्रह्मके धर्मोंकाभी प्राकृतोंका ही निषेध है। धर्मसामान्यका निषेध नहीं।

६. अत एव "अनामाऽगोत्रमजरममरमि" त्याद्युपनिषत्सु "अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्पर" इति पुराणादिवाक्येषु नामनिषेधोऽप्यस्मदादिनामतुल्यतां नामसु वारयति । न तु सर्वथा नामनिषेधः । अन्यथा धर्मविधा-

यकनिषेधकवेदान्तानामनवबोधकतापातः । आत्मब्रह्मेत्यादिपदानामतन्नामत्वे बोधनाक्षमत्वात् ।

६. 'अनामाऽगोत्रमजरममरं' इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें तथा 'अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः' इत्यादि पुराणवाक्योंमें जो ब्रह्मको नामरहित कहाहै इसका भी यही अर्थ है कि हमारे समान उसके नाम नहीं हैं, प्राकृत नाम नहीं हैं। किन्तु सर्वथा भगवान्‌के नामका निषेध नहीं । यदि ब्रह्मके सर्वथा नामही न होते तौ फिर ब्रह्मके धर्मोंका विधान करनेवाले तथा निषेध करनेवाले वेदान्तवाक्योंका कुछ अर्थही न हो सक्ता । क्यों कि जब ब्रह्मका कोई नामही नहीं तौ 'आत्मा' और 'ब्रह्म' यहभी उसके नाम नहीं ठहरते। ऐसी अवस्थामें वैसे शब्दोंसे उस वस्तुका बोधही क्यों होने लगा। इसलिये जहां कहीं नाम किंवा धर्मोंका निषेध है वह सब प्राकृतोंका ही है, न कि अप्राकृत अलौकिक धर्मादिकोंका ।

७. अन्यच्च । अस्थूलादिवाक्योदितानां स्थूलत्वादिप्रतियोगिकानामभावानां ब्रह्मणि सत्तया परमते द्वैतापातः । न चाऽभावानामधिकरणात्मकतया नाऽद्वैतहानिरिति वाच्यम् । शुद्धस्य भावपदार्थस्य ब्रह्मणोऽभावेन सहैक्याङ्गीकारेऽनेकनिगमव्याकोपात् । किं तद्ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायां निखिलाभावरूपं ब्रह्मेत्युक्तेरभावपदार्थत्वापत्तेः । किञ्च । अभावस्याऽधिकरणात्मकताङ्गीकारे घटवति भूतले घटात्यन्ताभावप्रतीतिः । अधिकरणस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । भूतले घटाभाव

इतिवद्भूतले भूतलमिति प्रयोगापत्तिश्च । इत्यादितार्किकनयसिद्धदूषणपुञ्जान्नाऽधिकरणाभेदोऽभावस्येति तत्कृतं द्वैतं दुर्निवारमिति दिक् ।

अपरञ्च । भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययसाक्षिकः पदार्थविशेषोऽभावः प्रतियोग्यसत्तारूपः । तथा प्रकृते श्रौतस्थूलत्वाद्यभावः । तदभेदे ब्रह्मणि स्वीकृते सत्तारूपत्वापायात् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति श्रुतिव्याकोपः । यदि त्वभावस्य प्रतियोग्यसत्तारूपत्वं नाऽऽद्रियते पदार्थान्तरत्वमङ्गीक्रियते तदा त्वस्थूलादिश्रुतिभिर्धर्माणां निवारणासम्भवाद्ब्रह्मणः सधर्मकत्वमेवाऽऽयातीति जितं धर्मवादिभिः । अतो नाऽधिकरणात्मकताऽभावस्य । एवं च तत्कृतद्वैतापत्तिः सिद्धैव ।

७. जो लोग ब्रह्ममें धर्मोंकी सत्ता नहीं स्वीकार करते उनके मतमें द्वैत रहेगा । क्योंकि 'ब्रह्ममें स्थूलत्वादि धर्मोंका अभाव है' यहां एक ब्रह्म और फिर उसमें एक स्थूलत्वादि अभाव, ये दो सत्ता होनेसे द्वैत होगा । यदि कहो कि 'अभावमात्र अधिकरणात्मक है इसलिये वह ब्रह्मरूपही होगा तो द्वैत कहां रहा' । यह भी कहना ठीक नहीं, क्यों कि ब्रह्म है शुद्धभावरूप पदार्थ । अब यदि उसका और अभावका ऐक्य करोगे तो ब्रह्मको अभावरूप मानना पडेगा । वास्तवमें तो अभावको अधिकरणरूप माननेमें अनेक आपत्तियां गिरेंगी । सुनिये । जब अभाव आधाररूप है तो जहां घडा रक्खा है वहांभी घटात्यन्ताभावकी

प्रतीति होनी चाहिये । और जैसे 'भूतले घटाभाव' यह प्रयोग होता है ऐसे ही 'भूतले भूतलं' 'जमीनपर जमीन' ऐसा भी प्रयोग होना चाहिये । इसतरह तार्किकनीतिके अनुसार धर्मको अधिकरणरूप माननेमें बहुत दोष आते हैं । इसलिये अनेक दोष आनेसे अभावको ब्रह्मरूप तौ मान नहीं सक्के तौ फिर स्थूलत्वादि अभाव और दूसरा ब्रह्म, यह दो प्रतीति होनेसे द्वैतसे छुटकारा न हुआ ।

ब्रह्मको स्थूलत्वाद्यभावरूप माननेमें एक और तमाशा होगा । 'भूतले घटो नास्ति' 'जमीनपर घडा नहीं है' यहां घडेका न होनाही अभाव पदार्थ है । इसतरह प्रकृतमें स्थूलत्वादिका न होनाही स्थूलत्वादिका अभाव ठहरेगा । अब यदि इसका और ब्रह्मका ऐक्य माना जाय तौ 'न होना ही' ब्रह्मका स्वरूप हुआ । जो ब्रह्म सत्तारूप था उसे अब असत्तारूप मानना पडा । और इसतरह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि अनेक श्रुतियोंका विरोध हुआ । यदि अभावको, प्रतियोगीकी असत्ता (न होना) न मानो, कोई औरपदार्थ ही मानो तौ फिर 'अस्थूलमनणु' आदि श्रुतियोंसे ब्रह्मके धर्मोंका निषेध हो नहीं सक्ता इसलिये सधर्मक माननेवालोंका ही जय हुआ । इसलिये अभावको अधिकरणरूप मानना उचित नहीं ।

८. सिद्धान्ते तु प्राकृतधर्माभावस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकम् । न च प्राकृतधर्माणामप्राप्ततया तन्निषेधोऽनुपपन्नः । लोकप्रतीतत्वेन प्राप्तत्वात् । "असन्नेव स भ-

वती" त्यादिश्रुतौ लोकप्रतीतस्यैव ब्रह्मासत्त्ववेदनस्य निन्दामुखेन निषेधात् । अत एव "आनन्दोऽजरोऽमृतः" "अनामाऽगोत्रमजरमभयममृतमि"त्यादिश्रुतौ लोकप्रतीतस्यैव जरादेर्ब्रह्मणि निषेधः । न तु श्रुत्यन्तरप्राप्तस्य । न हि कापि श्रुतिर्ब्रह्मणि जरादि विधत्ते । अतः श्रुत्यन्तराप्राप्तस्य लोकप्रतीतस्यैव प्राकृतधर्मसङ्घस्य सर्वत्र निषेधो ज्ञेयः । लोकप्रतीत्या प्राप्तत्वेन निषेधस्य सुवचत्वात् ।

८. शुद्धाद्वैत सिद्धान्तमें तौ प्राकृतधर्मोंके अभावको मिथ्या माननेमें किसीतरहकी हानि नहीं होती । यदि कहो कि 'प्राकृत धर्मोंका होना ब्रह्ममें संभवही नहीं फिर उनके निषेधका आग्रह क्यों करते हो' तौ इसका उत्तर इतनाही है कि प्राकृत धर्म लोकमें प्रतीत हैं, अत एव ब्रह्ममेंभी उनकी संभावना होती है । तौ लोक प्रतीत और संभावित प्राकृत धर्मोंकाही ब्रह्ममें निषेध है । 'असन्नेव स भवति' 'वह असत् है जो ब्रह्मको असत् समझता है' यहां निन्दाके मिषसे लोकप्रतीत जो ब्रह्मका असत्यपन उसीका निषेध है क्यों कि वास्तव असत्यत्व तौ ब्रह्ममें प्राप्तही नहीं । और इसीलिये 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' 'अनामाऽगोत्रमजरमभयममृत' इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें 'अजर' इत्यादि शब्दोंसे लोकप्रतीत जरा आदि धर्मोंका ही निषेध है, न कि अलौकिकोंका । किंवा और श्रुतियोंसे जिनका होना कहाहै उनका भी निषेध नहीं ।

कोइभी श्रुति ब्रह्ममें जरा आदिका विधान नहीं करती ।

अतः जो, औरश्रुतियोंसे प्राप्त नहीं तथा जो केवल लोकमें ही प्रतीत हैं बस उन्ही धर्मोंका 'अस्थूलादि' श्रुतियां निषेध करतीं हैं । क्योंकि प्रतीतकाही निषेध हो सक्ता है न कि अप्रतीतका ।

९. न च स्थूलत्वादिप्रतियोगिकाभावानां मिथ्यात्वाङ्गीकारे द्वैतनिवृत्त्या सर्वं सुस्थमिति वाच्यम् । धर्मतदभावप्रतिपादिकानां श्रुतीनां मिथ्यार्थप्रतिपादकतया समबलत्वेन भवदभिमतगुणाभावप्रतिपादकश्रुतिनिष्ठोपजीव्यत्वबाधात्सिद्धान्तभङ्गापत्तेः । अतः श्रुत्युक्तधर्माभावो नाऽऽर्यमनोरोचक इति प्रातीतिकप्राकृतधर्माभाव एव "अस्थूलमनण्वह्रस्वमि"त्याद्युपनिषदां विषय इति ज्ञेयम् ।

ननु "तदेजति तन्नैजती"ति श्रुतिविमर्शे एजनतदभावयोर्मूर्तिभेदेन व्यवस्थेति विद्वन्मण्डने निरूपितं प्रभुचरणैः । तथा सति यद्रूपे एजनाभावस्तस्य ब्रह्मत्वं न स्यात् । एकस्य श्रुत्युक्तैजनस्याऽभावे निखिलश्रौतधर्मवत्त्वाभावादिति चेत् । सत्यम् । इह एजनाभावस्य एजनतिरोभावरूपत्वं न तु प्रतियोग्यसत्तारूपतेति एजनस्याऽपि तत्र सत्त्वान्न पूर्वोक्तदोषः । "अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्ती"ति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तत्वात् ।

९. यदि कहो कि 'धर्म और धर्मका अभाव दोनोही मिथ्या हैं, इसलिये उनसे द्वैत का भय नहीं' तौ भी ठीक नहीं । क्योंकि आपके मतसे अब ब्रह्मके धर्म कहनेवाली तथा ब्रह्ममें धर्मका अभाव कहनेवाली दोनो तरहकी श्रुतियें

मिथ्या बातको कहनेवाली रहीं, और इसी लिये दोनो समान तथा समानबल हैं। तौ धर्माभावप्रतिपादक श्रुतियोंम जो उपजीव्यपन था वह अब न रहा। और उसके न रहनेसे आपकाही सिद्धान्त नष्ट हुआ। इसलिये मानना पडैगा कि ब्रह्ममें धर्मोंके अभावको कोई श्रुति नहीं कहती। और 'ब्रह्ममें कोई धर्म नहीं हैं' यह बात किसी आस्तिकको भी अच्छी नहीं लगती। इसलिये यही सिद्धान्त अच्छा है कि 'ब्रह्ममें प्राकृत धर्म नहीं है श्रुत्युक्तधर्म तो सब हैं'। और 'अस्थूलमनणु' आदि श्रुतियांभी ब्रह्मके प्राकृत धर्मोंकाही निषेध कर रहीं है, न कि अलौकिक अप्राकृत धर्मोंका।

यहां एक यह प्रश्न हो सक्ता है कि 'तदेजति तन्नैजति' 'वह ब्रह्म क्रिया करताभी है और नहीं भी' इस श्रुतिका विचार करते समय प्रभुचरणने विद्वन्मण्डनमें आज्ञा की है कि 'कम्पनक्रिया और कम्पनक्रियाका अभाव यह दोनो भगवानके दो अलग अलग स्वरूपमें हैं। तौ अब जिस रूपमें एजन क्रियाका अभाव है उस रूपको ब्रह्मत्व न रहा। क्योंकि जब श्रुतिनिरूपित एजन क्रियाका अभाव वहां है तौ वहां ही समस्त श्रुत्युक्त धर्मोंका अभाव भी रहा'।

ठीक है। यह प्रश्न होसक्ता है। परन्तु यहां कम्पनक्रिया के अभावका अर्थ है कम्पनतिरोभाव। यह तो पूर्वसिद्ध है

कि जहां तिरोभाव होता है वहां अप्रकट वस्तुका सत्ताभी होती है। तौ जहां एजनतिरोभाव है वहां एजनक्रियाकी सत्ताभी है ही इसलिये पूर्वोक्त दोष न रहा। द्वितीयस्कन्ध की सुबोधिनीमें कहा है कि 'अपने मतमें तिरोभावसे पृथक् अभाव पदार्थ ही नहीं हैं।

१०. न चैवं प्रातीतिकप्राकृतधर्माभावस्याऽपि तिरोभावरूपत्वात्प्रातीतिकप्राकृतधर्मसत्ताऽपि ब्रह्मणि स्वीकार्येति वाच्यम्। प्राकृतधर्माणां मिथ्यात्वेन तदभावस्याऽपि मिथ्यात्वं ननु तिरोभावरूपत्वमिति सिद्धान्तात्।

तथाचोपनिषदुक्तधर्माणां यत्राऽभावः प्रतिपाद्यते तत्राऽभावानां तिरोभावरूपत्वम्। न च तिरोभावकृता सिद्धान्ते द्वैतापत्तिः। "आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण" इति वाक्यात्। शक्तिरूपतया शक्तिमदभेदात्। यत्र तु प्रातीतिकप्राकृतधर्मप्रतियोगिका अभावाः प्रतिपाद्यन्ते तत्र प्रतियोगितदभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वम्। वन्ध्यासुततदभावयोरिव। इति न कश्चिद्दोषः। "अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्ती"ति सुबोधिनीफक्किकायामपि सत्प्रतियोगिका अभावास्तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीत्यर्थो बोद्धव्यः। तथा च सिद्धमप्राकृतश्रौतधर्मवत्त्वं प्राकृतधर्मरहितत्वं ब्रह्मणः। प्राकृतधर्मास्तु प्रकृतिजन्या अवास्तवभूताः स्थूलत्वादयः सन्त इव प्रतीयमानाः। ते श्रुत्या ब्रह्मणि निषिध्यन्ते।

न च "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्रितयं त्वहमि"ति वाक्यात्प्रकृतेर्ब्रह्मरूपत्वेन सत्त्वात्तज्जन्यानां कथमसत्वमिति वाच्यम् । नटादिभ्यः सद्भ्य उत्पन्नानां रसालादीनामसत्त्वस्य सर्वैरनुभूयमानत्वात् । तस्मात्सतः सदुत्पद्यते ह्यसदप्युत्पद्यत इति न किञ्चिद्दूषणम् ।

१०. यदि कहो कि ऐसे सिद्धान्तमें तौ एक बडा दोष आवैगा । सुनिये 'जहां लोकप्रतीति सिद्ध, अर्थात् लौकिक धर्मोंका अभाव है, वह तुह्मारे सिद्धान्तके अनुसार तिरोभावही है । तौ अब ब्रह्ममें लौकिक धर्मोंका अभाव है वह भी तिरोभाव है । और तिरोभाव है इसीलिये ब्रह्म में लौकिक (प्राकृत) धर्मभी माननेही पडेंगे । इसलिये अभावको तिरोभाव कहना उचित नहीं ।

तौ इसका उत्तर यह है कि 'प्राकृत धर्म स्वस्वरूपसे मिथ्या हैं, इसलिये उनका अभावभी मिथ्या है । जब वन्ध्यासुत मिथ्या है तो वन्ध्यासुताऽभाव भी मिथ्या ठहरैगा । और इसीलिये प्राकृतधर्माभावको तिरोभावरूपता नहीं हैं ।

तौ यह सिद्ध हुआ कि जहां वेदोक्त धर्मोंका अभाव कहा है वहां वह अभाव तिरोभावही समझा जाय । तिरोभाव भगवान् की शक्ति है । और शक्ति और शक्तिमान का परस्पर ऐक्य होता है । इसलिये तिरोभाव को लेकर द्वैत दोष भी न रहा ।

और जहां प्रतीतिसिद्ध प्राकृत धर्मोंके अभाव कहे गये

हैं, वहां वे अभावप्रतियोगी प्राकृतधर्म और उनके अभाव, दोनोंही मिथ्या हैं। जैसे वन्ध्यापुत्र और उसका अभाव। अतः कहीं किसीतरहका दोष न रहा। 'अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्ति' इस श्रीसुबोधिनीकी फक्किकाका भी यही अर्थ है कि 'सच्चे पदार्थोंके अभावही तिरोभावसे जुदे नहीं हैं। अर्थात् सत्य पदार्थके अभावही तिरोभावरूप हैं। तो यह सिद्ध हुआ कि 'श्रुतिकथित अलौकिक सब धर्म ब्रह्ममें हैं। और प्राकृत धर्मोंका लेशभी नहीं। प्राकृत धर्म प्रकृतिसे पैदा हुए हैं। और वे मिथ्या हैं। इसलिये ऐसे स्थूलत्वादि धर्मोंका ही ब्रह्ममें श्रुतिने निषेध किया है।

११. ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्माभेदेन तत्स्थूलत्वलघुत्वादीनामपि ब्रह्मणि सत्ता वाच्येति कथं प्रापञ्चिकधर्माभावो ब्रह्मणि सिद्धान्तित इति चेत्। सत्यम्। "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेते"ति चतुःश्लोकीवाक्ये सिद्धा या विषयता तद्विशिष्टत्वात्प्रपञ्चस्य प्रापञ्चिकस्थूलत्वाणुत्वादीनां विषयतायुक्तानां ब्रह्मण्यभावो युक्त एवेति बोध्यम्। न च धर्मवत्त्वेन द्वैतापत्तिः। प्रकाशाश्रयन्यायेन धर्म्यभेदात्।

११. यहां इतनी आशंका उपस्थित होती है कि श्रीभागवतमें कहा है कि 'इस जगत्का उपादान कारण प्रकृति है। और आधार अक्षर ब्रह्म है। और कारणरूपसे विद्यमान जगत्को प्रकाशमें लानेवाला काल है। किन्तु प्रकृति, पुरुष, और काल, यह तीनो ब्रह्मरूप मेरेही रूपान्तर हैं'। इस

भगवदाज्ञाके अनुसार प्रकृति ब्रह्मरूप है। और प्रकृतिके ब्रह्मरूप होनेसे तज्जन्य प्राकृतधर्मभी ब्रह्मरूप हुऐ। तौ फिर प्राकृतधर्मोंको असत्य क्यों कहते हो'।

तौ इसका उत्तर यह है 'ब्रह्मरूप भगवच्छक्ति प्रकृतिसे उत्पन्न हुए प्राकृत धर्म तौ असत्यही हैं। यह नियम नहीं है कि सत्यसे सत्यही हो। देखिये, बाजीगर किंवा उसकी शक्ति सत्य पदार्थ है, किन्तु उसीसे, आम, दाडिम, आदि असत्य पदार्थभी पैदा होते हैं। इसलिये कहना पडैगा कि 'सच्चेसे सच्चा होता है और असत्यभी होता है'। अतः कोई दूषण नहीं।

यदि कहो प्रपञ्च और ब्रह्मका ऐक्य है। तौ प्रपञ्चके स्थूलत्व आदि धर्म ब्रह्ममेंभी रहेंगेही, तौ फिर 'ब्रह्ममें प्रापञ्चिक धर्म नहीं है' यह सिद्धान्त कैसे निभैगा'।

ठीक है। 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि' इस द्वितीयस्कन्धकी चतुःश्लोकीके श्लोकमें यह सिद्ध हो चुका है कि प्रपञ्च यद्यपि ब्रह्मरूप है तथापि मायाजन्य विषयता (भ्रम) उसमें मिली हुई है। इसलिये वह नश्वर घृणित दीखता है। तौ अब प्रपञ्च और ब्रह्मका ऐक्य रहते-भी प्रपञ्चमें मिली हुई विषयताके स्थूलत्व अणुत्वादि धर्मोंका ब्रह्ममें न होना ठीकही है। इससे 'प्रापञ्चिक धर्म-रहित ब्रह्म है' यह सिद्धान्त निर्दोषही रहा।

यदि कहो कि 'एक ब्रह्म और दूसरे उसके धर्म' यह द्वैत दोष तो आवैगाही। तौ इसका उत्तरभी इतनाही है कि—

प्रकाशाश्रय न्यायसे धर्मीके साथ धर्मोंका अभेद है। अर्थात्—जैसे सूर्यसे सूर्यका प्रकाश जुदा नहीं इसीतरह धर्मी ब्रह्मसे उसके धर्मोंकी जुदाई नहीं, ऐक्य ही है। इसलिये द्वैत दोष नहीं आसक्ता।

१२. तादृशं परं ब्रह्म श्रीकृष्ण एव। "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते। सोऽहमोन्तद्गोपाल एव परं सत्यमबाधितम्। सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाऽक्लिष्टकर्मण" इत्यादिगोपालतापनीयोपनिषद्भ्यः। "कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतमि"त्यादिकृष्णोपनिषद्भ्यश्च। "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम" इति भगवद्वाक्याच्च।

केचिदत्राऽक्षरशब्देन प्रकृतिमाहुस्तन्न। तन्मते प्रकृतेर्ज्ञानाश्रयत्वाङ्गीकारात्क्षरणधर्मवत्त्वेनाऽक्षरत्वाभावात्।

अपि तु "अक्षरं ब्रह्म परमम्" "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्" "यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममे"त्यादिगीतासु निरूपितस्याऽक्षरब्रह्मण एवाऽत्र ग्रहणम्। ततो धामरूपादक्षरब्रह्मणः सकाशात्पुरुषोत्तमस्य तत्स्वामिनो युक्तैवोत्तमता।

न च धामशब्देन स्वरूपमिति वाच्यम्। "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनमि"ति श्रीभागवतदशमस्कन्धीयवैकुण्ठदर्शनप्रसङ्गे तस्यैवाऽक्षरस्य वैकुण्ठलोकत्वेन कथनात्तदविरोधाय गीतास्वपि धामपदेन लोकस्यैव ग्राह्यत्वात्। अतः क्षरा-

क्षरातीतः पुरुषोत्तमः परमकाष्ठापन्नः श्रीकृष्ण इति मन्तव्यम्। "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दादि"त्यधिकरणे ब्रह्मधर्मत्वेन सिद्धाया विश्वाधारताया जृम्भाप्रसङ्गे मृत्स्नाभक्षणप्रसङ्गे च प्रकाशितत्वाच्च। "यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति। येषां गृहानावसतीति साक्षाद्गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गमि"ति सप्तमस्कन्धे नारदवाक्याच्च।

श्रीकृष्णादपि कश्चित्पर इति तु न भ्रमितव्यम्। "मत्तः परतरं नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये"ति गीतोपनिषद्भ्यः।

१२. वह अलौकिक सर्वधर्मविशिष्ट परब्रह्म, श्रीकृष्णही हैं। श्रीगोपालतापनीयोपनिषत्‌में कहा है कि 'कृषका अर्थ सत्ता है, और णकार आनन्दवाची है। इन दोनोंका ऐक्य 'कृष्ण' शब्दमें है अत एव सदानन्द परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं'। 'तत्, अहं, और ओं इत्यादि शब्दोंसे कहनेलायक श्रीगोपालही हैं। और वेही सत्य और अबाधित पदार्थ हैं'। 'जिनके चरित्र सर्व सुखकर हैं, उन सच्चिदानन्द श्रीकृष्णको प्रणाम'। श्रीकृष्णोपनिषत्‌मेंभी कहा है कि 'श्रीकृष्णही सनातन परब्रह्म हैं'। और श्रीमद्भगवद्गीतामेंभी भगवदाज्ञा है कि 'में क्षर और अक्षरसे उत्तम हूं' इसलिये सर्वत्र 'पुरुषोत्तम' इस नामसे प्रसिद्ध हूं'। इसलिये श्रुतिस्मृतिपुराणप्रमाणोंसे सिद्ध है कि श्रीकृष्णही परब्रह्म हैं। 'यस्मात्क्षर' इत्यादि गीतोपनिषत्‌के श्लोकमें कितनेही वादीपुरुष 'अक्षर' शब्दका अथ प्रकृति बताते हैं। किन्तु उनके मतमें ज्ञानसे प्रकृतिका नाश

मानते हैं। तौ उनहीके मतसे प्रकृति क्षर ठहरती है। फिर क्षर प्रकृतिको अक्षर कहदेना कितनी भूल है। हमारे मतसे तौ 'अक्षरं ब्रह्म परमं' 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्' 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि 'यस्मात्क्षरमतीतोह' इस श्लोकमेंभी 'अक्षर' शब्दसे धाम ब्रह्मही लेना ठीक है। अत एव धामरूप अक्षर ब्रह्मसे परब्रह्म श्रीकृष्णका उत्तम होना उचितही है।

यदि कहो कि 'धामशब्दसे स्वरूपही क्यों नहीं लेते, अक्षर ब्रह्म क्यों लेते हो' तौ कहना पडैगा कि श्रीमद्भागवत गीताहीका विस्तार है। उस श्रीभागवतमें कहा है कि 'प्रकृतिसे पर सत्य ज्ञान और आनन्दात्मक एवं सर्वप्रकाशक तथा सनातन, जो अक्षर ब्रह्मात्मक वैकुंठलोक उसे प्रभुने गोपबालकोंको दिखाया' यहां अक्षर ब्रह्मकोही अपना धाम लोक कहा है इसलिये गीताके श्लोकमें भी धामसे लोकरूप अक्षर ब्रह्मही लेना उचित है। इसलिये 'क्षर और अक्षर दोनोंसे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण हैं, यह बात माननी चाहिये।

'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस ब्रह्ममीमांसाके अधिकरणमें यह सिद्ध हो चुका है कि 'भगवान् समग्र जगत्का आधार है'। और 'मैं सब जगत्का आधार हूं' इस बातको स्वयं श्रीकृष्णने माता श्रीयशोदाकी गोदमें जंभाई लेते समय स्पष्टकर दिखाई है। औरभी, सप्तमस्कन्धमें श्रीनारदने युधिष्ठिरसे कहा है कि 'हे राजन्, तुह्मारे घरमें साक्षात् पर-

ब्रह्म मनुष्यरूपसे छिपकर निवास करते हैं, यह जान सब पवित्र करनेवाले बडे बडे महर्षिलोक तुम्हारे यहां आते हैं, तुम बडे भाग्यवान् हो'। इसलिये यह सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि 'श्रीकृष्णही सर्वोत्कृष्ट हैं'।

श्रीकृष्णसे भी कोई पर है यह भ्रम कभी न रखना चाहिये। क्यों कि श्रीगीतोपनिषत्में प्रभुने स्वयं आज्ञा की है कि 'हे धनंजय ! कोईभी दूसरा मुझसे श्रेष्ठ नहीं है'।

१३. तस्य कृष्णस्य सेवा कार्या । "परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति तं ध्यायेत्तं भजेत्तं रसेत्" "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति। तं पीठगं ये तु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषामि"ति श्रुतेः। भज सेवायामिति धात्वर्थात् ।

"तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः । नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः" "मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः" "मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतमि"त्यादिवाक्येभ्यः सेवायां सर्वसाधनोत्कर्षः सिद्ध इति सेवैव कार्या।

१३. इन श्रीकृष्णकी सेवा करना यह जीवका धर्म है। वेदमें कहाहै 'परब्रह्म श्रीकृष्णका जो ध्यान करताहै। उनका जो निरन्तर स्मरण करता है। और जो उनकी सेवा करता है। वह मोक्षको प्राप्त होता है। इसलिये उसे ध्यावै, स्मरै,

और भजै'। 'श्रीकृष्ण सर्वोत्तम हैं, सबको अपने शासनमें रखनेवाले हैं, सर्वव्याप्त हैं, अत एव वही सबके सेव्य हैं। जो कोई पीठस्थित इन भगवान्‌की सेवा करते हैं, उनकोही सनातनसिद्धि मिलती है, औरोंको नहीं'। यहां भजनका सर्वत्र सेवा अर्थ है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि मनुष्यके 'वह जन्म, वह कर्म, वह आयुः, वह मन, और वह वचन सार्थक हैं, जिनसे सर्वात्मक हरि भगवान्‌की सेवा होती है'। 'मधुसूदनप्रभुकी सेवामें जिनका मन लग रहा है, उनके लिये मोक्षभी तुच्छ है'। 'मेरी सेवासे प्राप्त चार प्रकारकी मुक्तिकोभी मेरी सेवासे कृतार्थ पुरुष नहीं चाहते, कालसे नष्ट होनेवाले स्वर्गादिसुखकी तो क्या चलाई'। इत्यादि अनेक वाक्योंसे यह सिद्ध है कि कल्याणके सर्व साधनोंमें सेवाही सर्वोत्तम है। इसलिये जीवको भगवत्सेवाही कर्तव्य है।

१४. सेवा च कृष्णमूर्त्तौ कार्या। "पूजनं प्रतिमायां तु उत्तमं परिकीर्त्तितमि"ति कालनिर्णयदीपिकास्थविष्णुधर्मोत्तरवाक्यात्।

न च "यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति स" इति कपिलवाक्यात्प्रतिमार्चनं न कर्त्तव्यमिति वाच्यम्। भगवतः सर्वत्र व्याप्तिमज्ञात्वा प्रतिमेतरावज्ञां कुर्वतः परिच्छिन्नदृष्ट्या मूर्त्तावेव भगवानस्तीति बुद्ध्या परिचरतो भजनस्य निन्दाविषयत्वात्। "हित्वाऽर्चां भजते मौढ्यादि"त्यत्र प्रतिमेतरविषयकभगवद्-

ज्ञानजन्यावमानस्य त्यागपदार्थत्वात् । "अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे । नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिन" इति वाक्यान्तरेण भूतावमानसहितपूजाया एव भगवदप्रीतिसाधकत्वकथनेन तदनुसारेणाऽन्यत्राऽपि तथैव स्वीकारात् ।

किञ्च । मौढ्यादिति पदेन भगवच्छास्त्रोक्तस्वतन्त्रभक्तिमार्गो न निन्द्यतेऽपि तु मौढ्यकल्पितः प्रमाणविमुख इति सूचितम् । अत एवैतच्छ्लोकविवृतौ श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम्—"न तु स्वतन्त्रो भगवन्मार्गो निषिद्धः । स गुणातीत इत्येकादशे वक्ष्यते मन्निकेतं तु निर्गुणमित्यादिभिः । प्रकरणेन च वाक्यानि संबद्धानि तत्प्रकरणस्थमेव गुणदोषं वदन्ती" त्यादि । अत एव "अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजस" इति भगवता तादृक्पूजाया राजसत्वमभाणि । तथाच सगुणभक्तौ पृथग्भावादिदोषस्य विद्यमानतया निन्दावाक्यानां तत्र सविषयत्वेन वक्ष्यमाणरीत्या सर्वरूपो भगवान् सर्वत्र च भगवानिति बुद्ध्या परिचरतः सेवायां निर्गुणभक्तिरूपायां न किञ्चिद्दूषणम् । अन्यथा श्रीकृष्णोद्धवसंवादे मूर्त्तिपूजाविधेर्वैयर्थ्यं स्यात् । मूर्तिपूजाविधायकानि तन्त्रस्मृतिपुराणवाक्यानि च कुप्येरन् ।

१४. वह सेवा श्रीकृष्णकी मूर्तिमें करनी, यह उचित है। क्यों कि कालनिर्णयदीपिका नामक धर्मशास्त्रमें विष्णुधर्मोत्तरका मत देकर कहा है कि 'मूर्तिमें पूजन करना उत्तम है'। यहां प्रश्न होता है कि श्रीकपिलदेवजीने तृतीयस्कंधमें

कहा है 'जो पुरुष सर्वत्र विद्यमान मुझ ईश्वरको छोड प्रतिमाकी पूजा करता है वह भस्ममें हवन करता है' इससे यह सिद्ध है कि मूर्तिमें पूजा करना व्यर्थ है।

तो इसका उत्तर यह है कि इस श्लोकमें प्रतिमापूजनकी निन्दा नहीं है किन्तु मनुष्यके अज्ञान और परिच्छेदकी निन्दा है। अर्थात्—'भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं' इस बातको जो नहीं जानता इसलिये 'मेरी मूर्तिके सिवाय अन्यत्र ईश्वर नहीं' यों समझकर अन्य मूर्तिप्रभृति जगत्का अपमान करता रहता है उस मनुष्यका वह मूर्तिपूजन भस्ममें हवनके समान व्यर्थ है। श्लोकके 'हित्वा' और 'मौढ्यात्' ये दो पद इस अर्थको कह रहे हैं। इसलिये यहां मूर्तिपूजाका निषेध नहीं किन्तु अज्ञान और संकुचित दृष्टि रखकर सेवा करनेकाही निषेध है। इसीतरह 'हे निष्पाप मेरी माता! जो पुरुष मुझ भगवान्को सर्वत्र न समझकर प्राणियोंका अपमान करता रहता है वह भलें अनेक सामग्री और मण्डनो द्वारा मेरी सेवा करै किन्तु उसकी सेवासे में प्रसन्न नहीं होता'। इत्यादि अनेक वाक्योंमेंभी परिच्छिन्न दृष्टि और भूतापमानको अपनी अप्रसन्नताका हेतु कहा है, न कि मूर्तिपूजाको। अत एव औरभी जगह जहां जहां ऐसे वचन आवें उनकीभी यही व्यवस्था करनी उचित है।

'मौढ्यात्' इस पदसे यहभी प्रकाशित है कि 'भगवच्छास्त्रोक्त स्वतन्त्र भक्तिमार्ग निन्दित नहीं है, किन्तु मूर्खोंने अपने अज्ञानसे जो कल्पितमार्ग बनालिया है बस उसीकी

सर्वत्र निन्दा है । अत एव श्रीमदाचार्यचरणोंने इस श्लोककी टीका करते समय आज्ञा की है कि 'यह निषेध स्वतन्त्र भक्तिमार्गका नहीं है। क्यों कि आगे एकादशस्कंधमें 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' इत्यादि वचनोंके द्वारा इस मार्गकी उत्तमता और बडाई स्वयं कहेंगे। जो वाक्य प्रकरणसे संबद्ध होते हैं वे उसी प्रकरणका गुणदोष कह सक्ते हैं, अन्यका नहीं'। इसीलिये श्रीकपिल भगवान्‌ने, 'भेददृष्टि रखकर जो मेरी सेवा करता है वह उसकी भक्ति राजस है' यह कहकर परिच्छिन्न दृष्टिवाले सेवकको राजस कहा है। इसलिये सगुणभक्तिमें पृथक्‌भाव होता है । और निन्दाके वाक्य ऐसी भक्तिके लिये ही हैं। किन्तु जो लोग 'सर्वरूप भगवान् हैं, सर्व पदार्थमें भगवान् विराजते हैं' इस भावसे निर्गुण भक्तिरूप सेवा करते हैं उन्हे किसी तरहका दूषण नहीं। यदि मूर्तिपूजाकी निन्दा करनेकाही प्रभुका तात्पर्य होता तौ एकादशस्कंधमें श्रीउद्धवके आगे इतने विस्तारसे मूर्तिमें सेवा करनेका उपदेश क्यों करते। और मूर्तिपूजाका विधान करनेवाले श्रुतिस्मृति तथा पुराणोंके वाक्य सब व्यर्थ हो जांयगे।

१५. एतेनैव "अर्चायामेव हरये पूजायां यः श्रद्धये-

---

१ मूलमें भक्तिमार्ग दो प्रकारका है । एक निर्गुण और दुसरा सगुण । सगुण तीन प्रकारका है । सत्विक राजस तामस । निर्गुणभक्तिमार्गमें स्नेहानुकूल सब उपचार करनेमें आते हैं । उसेही यहां स्वतन्त्र भक्तिमार्गके नामसे कहा है ।

हते । न तद्भक्तेषु चाऽन्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृत" इत्यादीनि व्याख्यातानि । न तद्भक्तेषु चाऽन्येष्वित्युक्त्या मूर्त्तीतरस्थले भगवदज्ञानजन्यावमानस्यैव स्फुटीकरणात् । एवं सति सर्वत्र भगवानस्तीति ज्ञात्वा सर्वेषामवमानमकुर्वता भगवन्मूर्तिं परिचरता क्रियमाणं भजनं निरवद्यमेव ।

न चैवं घटादावपि भगवत्सत्तया तस्याऽपि पूजाऽस्त्विवति वाच्यम् । भगवन्मूर्त्तावेव मूलरूपभगवदाविर्भावेन ततोऽन्यत्र जीवं प्रति हरितिरोभावात् । अन्यथा मूर्त्तिपूजनवद्घटपटादिपूजाऽपि भागवतादौ विधीयेत ।

एवमेव "यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः । यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखर" इत्यत्राऽपि न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेष्वित्युक्त्या अभिज्ञजनावमानबोधनेन सर्वत्र भगवद्बुद्ध्यभावबोधनात्तादृक्सगुणभक्तियुक्तस्यैव निन्दा न तु सर्वत्र भगवद्बुद्धिमत इति ज्ञेयम् । अन्यथा अस्मिन्नेव श्लोके जलविषयकतीर्थबुद्धेर्निन्दितत्वाद्गङ्गाजलादावपि तद्बुद्धिर्बाध्येत । तथा सति गङ्गादिजले तीर्थबुद्धिसम्पादकानि नानापुराणतन्त्रवाक्यानि च दुष्टानि स्युः ।

१५. इसीके अनुसार 'अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः'॥ इत्यादि वचनोंकी भी संगति समझलेना उचित है। अर्थात्—जो पुरुष हरिप्राप्तिके लिये केवल प्रतिमामेंही श्रद्धासे पूजा करता है। किन्तु अज्ञताके कारण भगवद्भक्तोंमें

और गोब्राह्मण आदि पदार्थोंमें भगवान्‌की पूजा (अर्थात्‌-उन उन पदार्थोंकी योग्यतानुसार सत्कार) नहीं करता वह मूर्ख भक्त है। सत्सङ्गादिसे आगे जाकर सम्हल सक्ता है। तौ यहांभी प्रतिमापूजनकी निन्दामें तात्पर्य नहीं किन्तु अज्ञान, परिच्छिन्नदृष्टि, और ईर्ष्याद्वेषकीही निन्दा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'जो पुरुष, भगवान् सर्वत्र हैं यह नहीं जानता। अतएव प्रतिमासे जुदे पदार्थोंका अपमान करता रहै वहां उसकी भक्ति निन्दाके पात्र है। किन्तु जो सर्वत्र प्रभु हैं यह जानकर सब पदार्थोंका यथायोग्य सत्कार (पूजा) करता रहकर भगवन्मूर्तिकी सेवा करै वह उत्तम भक्त है। और इसी तरह सेवा करना उचित और निर्दोष है।

अब यहां एक यह प्रश्न होता है कि जब सर्वत्र भगवान् विराजते हैं तौ फिर मूर्तिमेंही उनकी पूजा सेवा क्यों ?। घट पट आदि सब जगत्‌के पदार्थोंकी सेवा क्यों नहीं करते ?।

उसका उत्तर यह है कि मूर्तिमेंही पूज्यरूपसे मूल परमात्माका प्रादुर्भाव है। अन्यस्थलमें प्रभुका उस रूपसे तिरोभाव है। अनेक तरहके व्यवहार चलनेके लिये भगवान् अनेकरूपसे प्रगट हुऐ हैं। यद्यपि भगवान् सर्वशक्ति हैं और सर्वमय हैं तथापि जिसकार्यके लिये जिस शक्तिको लेकर जिसरूपसे प्रकट होते हैं उस समय उस पदार्थसे उसी कार्यकी सिद्धि होती है। जलानयनरूप कार्यके लिये उस शक्तिको लेकर प्रभु घटरूपसे प्रगट हुए हैं। अत एव

घटसे जल लानाही होसक्ता है। यद्यपि घट प्रभुरूप होनेसे सर्वमय है तथापि उससे अन्यकार्य नहीं होसक्ते। क्यों कि घटमें जलाहरण शक्तिके सिवाय बाकीकी सब शक्तियोंका व्यवहार चलानेके लिये तिरोभाव कर रक्खा है। यह बात 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' 'स सर्वं भवति' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' 'नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होती है।

इसीतरह मूर्तिमें उद्धार कार्यके लिये उद्धार शक्तिको ग्रहणकर भगवान् मूर्तिरूपसे प्रकट हुए हैं। इसलिये मूर्तिके सिवा अन्यत्र पूजन उचित नहीं। क्यों कि वहांही सेवाके लिये मूलभगवान्का प्रादुर्भाव है। यदि ऐसा न होता तौ शास्त्रोंमें भागवत आदि शास्त्रोंमें मूर्तिपूजाकी तरह घटपूजाभी कही होती।

इसीतरह—

'यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः' ॥

'कफवातपित्तमय इस देहमें जिसकी 'में' यह बुद्धि है, स्त्रीपुत्र आदिमें 'मेरी' यह बुद्धि है मूर्तिमेंही पूज्यबुद्धि है, और जिसकी पानीमें तीर्थबुद्धि है, किन्तु भगवद्भक्तोंमें पूज्य तथा तीर्थबुद्धि नहीं वह पुरुषही पशु है'। यहांभी मूर्तिमें पूजाकी जो निन्दा है वहभी ज्ञानी विद्वानोंमें तिरस्कारबुद्धि

रखनेवाले अत एव अज्ञानी और संकुचित दृष्टिवाले भक्त-कीही है, न कि सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनेवाले भक्तकी। यदि वास्तव भक्तकीही निन्दा होती तो फिर इसी श्लोकमें जलमें तीर्थ बुद्धिकीभी निन्दा की है, इसलिये गङ्गादि तीर्थोंमें तीर्थबुद्धि करनेका निषेध प्राप्त होगा। यदि ऐसा हुआ तो श्रीगङ्गामें तीर्थबुद्धिविधायक पुराण और तन्त्रोंके सहस्रों वाक्य व्यर्थ और झूंठे हो जांयगे। इसलिये मानना पडैगा कि 'अज्ञानी संकुचितदृष्टि रखनेवाले परद्वेषी सगुण भक्तोंकी ही वह निन्दा है न कि निर्गुणभक्तोंकी किंवा मूर्तिपूजाकी'। मूर्तिकी सेवा पूजा तो शास्त्रीय और जीवका अवश्य कर्तव्य है'।

१६. अतो यस्य परिच्छिन्नदृष्ट्याऽत्रैव भगवान्नेतरत्रेति बुद्धिः स निन्द्यते। भगवदर्चेयं भौमेति च यस्य बुद्धिः सोऽपि निन्द्यः। विष्णोरर्चायां "शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिरि"ति गोपालतापनीयोपनिषत्सु निन्दाश्रवणात्। "शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद कर्हिचित्। ज्ञानानन्दात्मको विष्णुर्यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृदि"ति वाक्याच्च।

अतोऽस्मत्सिद्धान्ते सर्वत्र व्यापकतया विराजमानः सर्वरूपो भगवान् मूर्त्तिरूपेण सेवकोद्धारार्थं प्रकटीभूत इति हरिमूर्त्तिर्हरिरेव। "पुरुष एवेदं सर्वमि"ति श्रुत्या पदार्थमात्रस्य भगवद्रूपत्वात्। अत एव सर्वनिर्णयप्रकरणे "आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण" इत्युक्त्वा तत्तत्कार्यार्थं तत्तद्रूपस्य हरेरेवाऽभिव्यक्तिरि"त्युपपादितम्।

तथाच जलाहरणार्थं घटरूपेण हरेरेव प्राकट्यमिति ज्ञेयम् । एवं पटादावप्यावरणादिरूपप्रयोजनमुद्दिश्य भगवदाविर्भावो ज्ञेयः । एवं सति भक्तोद्धारार्थं मूर्त्तिरूपेणाऽऽविर्भाव इत्याकलनीयम् ।

१६. इसलिये जो अपनी संकुचित दृष्टिसे 'इस मूर्तिमेंही भगवान् है, और जगह नहीं' यह बुद्धि रखता है, बस वही निन्दनीय है । इसीतरह, जो पुरुष यह समझता है कि 'यह सेवा पूजा सब पत्थरकी है किंवा पत्थरकी मूर्ति की है, न कि भगवान्‌की' वहभी निंद्य और पातकी है । गोपालतापनीय उपनिषत्‌में कहा है कि 'जो पुरुष मूर्तिपूजामें शिलापूजन, और गुरुमें मनुष्यबुद्धि, तथा वैष्णवमें जातिबुद्धि रखता है वह नरकगामी होता है । इसतरह निन्दा होनेसे मूर्तिमें अन्यथा बुद्धि करनी उचित नहीं । अन्यत्र शास्त्रमेंभी कहा है कि 'हे नारद जहां सच्चिदानन्द विष्णु स्थित हों वहां (मूर्तिमें) शिलाबुद्धि न करनी चाहिये' ।

हमारे पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तमें तो 'भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं । अत एव सर्वत्र विराजमान हैं । और वे सर्वरूप हैं इसलिये अपने सेवकके उद्धारके लिये मूर्तिरूपसे प्रगट हुए हैं' यह पक्का सिद्धान्त है इसलिये इस मार्गमें तो मूर्ति साक्षात् भगवान् है । क्यों कि 'पुरुष एवेदं सर्वं' आदि श्रुति, पदार्थमात्रको ब्रह्मरूप कह रही है । इसीलिये निबन्धके सर्व निर्णय प्रकरणमें 'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै

मुरवैरिणः' यह कहकर आगे आचार्यचरणोंने आज्ञा की है की 'उन उन कार्य करनेके लिये उस उस रूपसे भगवान्का ही प्रादुर्भाव है'।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जलादि लानेके लिये घटरूपसे भगवान्का ही आविर्भाव है। और आच्छादन आदि कार्योंका उद्देश कर पट रूपसे भगवान्ही प्रगट हुए हैं। इसतरह जब उन उन कार्यके लिये भगवान्नेही अनेक रूप धारण किये हैं तो भक्तोंका उद्धार करनेके लिये मूर्तिरूपसे भगवान्ही प्रगटे हैं यह जानना चाहिये।

१७. तत्तद्रूपेणाऽऽविर्भावे भगवदिच्छाया नियामकत्वादनेन घटादिरूपेण जलाहरणादि करिष्यामीत्यादिरूपयेच्छया घटादिरूपेण स्फूर्त्तिः। इच्छा च कार्यानुमेया। अतो हरिमूर्त्त्या सेवकोद्धाररूपकार्यस्य पुराणादौ स्मरणादुद्धारेच्छाऽनुमीयते। तथा सति वस्तुमात्रस्य ब्रह्मत्वेऽपि तादृगाविर्भावानाविर्भावौ सेव्यत्वासेव्यत्वप्रयोजकाविति नेतरसाधारण्यं मूर्त्तेः।

अत एवोक्तं निबन्धीयसेवाप्रकरणे "मूर्त्ति कृत्वा हरेः क्वचित्। परिचर्या सदा कुर्यादि"ति। व्याख्यातं च— "मूर्त्तेर्भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयती"त्यारभ्य "वस्तुविचारे सर्वस्याऽपि भगवद्रूपत्वात्। विशेषस्त्वयम्। एनमुद्धरिष्यामीति तदा मृदादेः प्रादुर्भूत" इत्यन्तेन।

अयमर्थः। इतरपदार्थापेक्षया भगवन्मूर्त्तौ सेव्यत्वप्रयोजकोऽयं वक्ष्यमाणो विशेष इत्यर्थः। तमेवाऽऽहुः—

एनमुद्धरिष्यामीति तदा मृदादेः प्रादुर्भूत इति । एनं सेवनोत्सुकं सेवकं संसारादुद्धरिष्यामीतीच्छया मूर्त्तिरूपेण प्रकट इत्यर्थः ।

इतरत्र घटादौ जलाहरणादिकार्यस्य स्फुटत्वात्तत्कारणीभूता जलाहरणादि करिष्यामीत्यादिरूपा भगवदिच्छाऽनुमीयते । तथैवेह मूर्त्तिरूपेणोद्धरिष्यामीतीच्छाऽनुमेया । उद्धाररूपकार्यस्य पुराणादिसिद्धत्वात् ।

अतो ब्रह्मवादविचारे सर्वस्य तौल्येऽपि मूर्त्तौ वैशिष्ट्यमिति निर्दुष्टमखिलम् । अत एव रामानुजाचार्यमतीया भगवन्मूर्त्तिमर्चावतारं वदन्ति ।

१७–भगवान्के उस उस रूपसे प्रगट होनेमें उनकी इच्छाही कारण है। इसलिये मालुम पडता है कि 'इस घट रूपसे जलाहरणादि कार्य करूंगा' यों विचारकर ही प्रभुने घटादिरूपोंका ग्रहण किया है। उन उन पदार्थोंसे वे वे नियमित कार्यही होते हैं, अतएव इन नियमित कार्योंसे ही भगवदिच्छाका अनुमान होता है। पुराणोंमें भगवन्मूर्तिसे अनेक भक्तोंका उद्धार होते सुना है, अतःकहना पडता है कि मूर्तिद्वाराही उद्धार करनेकी प्रभुकी इच्छा है।

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जहां उद्धार कार्यके लिये प्रादुर्भाव है वहांही सेवापूजा करनी उचित है। और जहां उद्धार कार्यके लिये प्रादुर्भाव नहीं वहां पूजाभी नहीं। और इसीलिये घट पट आदि पदार्थोंको मूर्तिके समान, किंवा मूर्तिको अन्य पदार्थोंके समान समझना सर्वथा अनुचित है।

निबन्धके सर्व निर्णय प्रकरणमें श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणने 'मूर्त्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्' इत्यादि श्लोकका व्याख्यान करते समय आज्ञा की है कि-'मूर्ति, तीन तरहसे भगवान् है। ज्ञानमार्गमें पदार्थ मात्र ब्रह्मरूप है इसलिये मूर्तिभी भगवद्रूप है। यहां ये प्रश्न होसक्ता है कि 'तौ फिर मूर्तिमेंही कौनसा विशेष है। इसका उत्तर यह है कि 'जैसे सर्वत्र व्यापक रहतेभी प्रल्हादकी रक्षाके लिये ही स्तम्भसे प्रगट हुए, उसीतरह 'इस भक्तका उद्धार करूंगा' यों विचारकर ही प्रभु मूर्तिरूपसे प्रगट हुए हैं। यह मूर्तिमें विशेष है।

भक्तिमार्गके अनुसार यह है कि स्नेहानुकूल अनेक उपचार ग्रहण करनेके लियेही प्रभु मूर्तिमें अभेदसे सदा विराजते हैं। यद्यपि यहांभी यह प्रश्न होसक्ता है कि 'आरम्भदशामें साक्षात्कार न होनेसे भेद बुद्धि रहैगी तौ यह मूर्ति साक्षात् भगवत्स्वरूप है ऐसी बुद्धि क्यों होगी' तौ इसका उत्तर इतनाही है कि-वेदान्तसूत्रोंके वैश्वानराधिकरणमें और श्रीमद्भागवतके [1]दामोदरलीला प्रकरणमें यह सिद्ध हो चुका है कि 'भगवान् साकारही व्यापक है'। और अन्तर्यामि ब्राह्मणमें भी अन्तःस्थ पुरुषको ही सर्वकर्ता कहा है। इसलिये आरम्भमें भी किसी तरहकी आशंका नहीं हो सक्ती। और स्नेहानुकूल निरंतर मूर्तिकी परिचर्यामात्रसे निरावरण

---

१ श्रीयशोदा तथा अर्जुन प्रभृतिको साकारव्यापकस्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है इसलिये भगवत्स्वरूप साकार व्यापकही है यह निर्भ्रम है।

दर्शन होंगे तौ भेद बुद्धि न रहैगी। इसतरह आरम्भ और अन्तमें भेदबुद्धि हैही नहीं।

उपासनामार्गमें भी मूर्तिको भगवद्रूप कहनेवाले तथा मूर्तिकी पूजा कहनेवाले अनेक वेदमन्त्र और एकादशस्कंधादि प्रमाणोंके विद्यमान होनेसे मूर्ति भगवद्रूप है यह उचितही है'। विधिमन्त्रादिके परवश पूजामार्गको ही उपासना मार्ग कहते हैं।

घटादि एक एक पदार्थसे जललाना प्रभृति एक एकही कार्य होते हैं इसलिये उस उस कार्यमात्रके करनेकी भगवदिच्छाका अनुमान होता है। पुराणादिमें मूर्तिद्वारा अनेक सेवकोंका उद्धार कहा है इसलिये उद्धारकार्यके लिये मूर्तिरूपसे प्रगट होनेकी भगवदिच्छा है यह सिद्ध होता है। ब्रह्मवादके विचारमें यद्यपि सर्वत्र समानता है तथापि मूर्तिमें इतना विशेष है। अतएव श्रीरामानुज मतमें भगवन्मूर्तिको 'अर्चावतार' कहते हैं।

१८. ननु शालग्रामे भगवदाविर्भावस्य सर्वसच्छास्त्रसिद्धत्वात्तत्पूजयैव मूर्त्तिभजनस्य गतार्थताऽस्त्विति चेन्न। नवविधभक्तिनिरूपणे "नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत" इति नारदवाक्यान्नवधाभक्तेरवश्यकर्त्तव्यतया तत्र च "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पत" इत्यादिवाक्योक्तानां नानाविधवसनभूषणप्रभृत्युपचाराणां सर्वथैव कर्त्तव्यत्वेन शालग्रामे तत्सौकर्याभावात्। अतो भगवन्मूर्त्तिसेवा कार्या।

तत्र चाऽनेकविधालङ्कारवसनभूषणोपचाराणां सौकर्यात् । अतः कृष्णमूर्त्तिसेवनं शालग्रामार्चनं चेत्युभयमपि कर्त्तव्यम् ।

इति श्रीगोवर्द्धनधरश्रीवल्लभाधीशश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
श्रीलाल्लूभट्टोपनामकदीक्षितश्रीबालकृष्णभट्टेन विरचितायां
सेवाकौमुद्यां द्वितीयं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

१८. अब एक यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'शालग्रामकी मूर्ति साक्षात् भगवान् है यह सब सच्छास्त्रोंसे सिद्ध है तौ फिर उनके पूजनसेही मूर्तिपूजाका काम होसक्ता है। अलग मूर्तिकी सेवा पूजा करनेसे क्या प्रयोजन'।

ठीक है। शालग्रामशिला साक्षात् परब्रह्म है इसमें किसीको संदेह नहीं। किन्तु वहां स्नेहानुकूल मन चाहते अनेक उपचार यथावत् नहीं होसक्ते। नवविधभक्तिका निरूपण करते समय श्रीनारदने कहा है कि-'यह नवविधभक्ति मनुष्यमात्रका उत्कृष्ट धर्म, शास्त्रोंमें कहा है'। और उसीभक्तिमें भगद्वाक्यसे यहभी सिद्ध हो चुका है कि 'जो पदार्थ लोक और शास्त्रमें अनिन्दित हों और जो अपने मनको प्रिय लगते हों वह वस्त्र आभूषण भोग आदि मेरे अर्पण करै'। तौ इत्यादि वचनोंसे नवविधभक्ति, तथा उन उन पदार्थोंका प्रभुको निवेदन करना, यह मनुष्य मात्रका अवश्य कर्तव्य ठहरा। सो शालग्राम शिलामें बन नहीं सक्ता। क्यों कि वस्त्र आभूषण धरानेमें वहां सौकर्य नहीं इसलिये प्रभुकी मूर्तिकी सेवा करना उचित है।

मूर्तिमें वस्त्र अलंकार आदि सब उपचार करनेका अति सौकर्य रहता है। और इसतरह अतिसौन्दर्य होनेसे मनोनिवेशभी जल्दी होता है। इसलिये मूर्तिकी सेवा पूजा और शालग्रामकी पूजा, दोनोंही कर्तव्य हैं।

तो इस ग्रंथसे यह सिद्ध हुआ कि—लोकप्रतीत प्राकृत धर्मोंसे रहित शास्त्रोक्त सब धर्मोंसे युक्त, अतएव निर्गुण, सर्व देवोंसे श्रेष्ठ, तथा पुरुषोत्तम कहने योग्य श्रीकृष्ण परब्रह्मही पुष्टिमार्गमें सेव्यस्वरूप हैं। सेवकोद्धाररूप कार्यके लिये वे मूर्तिरूपसे प्रगट हुए हैं। अतएव पूर्व प्रकरणमें कही रीतिसे उनकी सेवा करनी यह जीवका उचित धर्म है। प्रभुसेवासे जीवको कृतार्थता प्राप्त होगी।

इसतरह यह भाषानुवाद समाप्त हुआ।

जे धावहिं जदि खलहिं मग तेहिं सुजान सिख देत।
हौं मानुस मो भूल हित दयहु जनाउ सचेत॥
जिहिं उदये उदयौ जगत घन हिय तिमिर नसाय।
सो वल्लभ पद बाल बिधु मो हिय बसहु समाय॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

Published by Pandit Ramanath Sharma, Bada Mandir,
Bhuleshwar, Bombay.

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the "Nirnaya-Sagar
Press," 23, Kolbhat Lane, Bombay.

वेचनेकी पुस्तकें.

संस्कृत.

		रु. आ. पै.
१	श्रीसुबोधिनी ...	२– ०–०
२	भक्तिहंस ...	०–१४–०
३	श्रीयमुनाष्टक (श्री हरिरायजीकृत व्याख्यान)	०– ३–०
४	श्रीयमुनाष्टक (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत व्याख्यान)	०– २–६
५	बालबोध ,,	०– ३–०
६	,, (श्रीदेवकीनन्दनकृत व्याख्यान)	०– २–६
७	सेवाकौमुदी ...	०– २–०
८	बालकृष्ण चम्पू	४– ०–०
९	निर्णयार्णव ...	०– ४–०
१०	सिद्धांत सिद्धापगा	०– ६–०
११	दर्शनादर्श ...	०– २–०
१२	व्याख्यान रत्नावळी	०– १–०
१३	स्तुति पारिजात	०– १–०
१४	सिद्धांत मुक्तावली	०– २–०
१५	पुष्टिप्रवाह मर्यादा	०– ५–०
१६	वेदान्त चिन्तामणि	१– ०–०

भाषाकी पुस्तकें.

		रु आ. पै.
१	शुद्धाद्वैतदर्शन (हिन्दी)	०– ८–०
२	,, भाग २.	०– ८–०
३	,, (मराठी)	०– ८–०
४	वल्लभाख्यान (गुजराती)	३– ०–०
५	शुद्धाद्वैत सिद्धांत सार (गुर्जर हिन्दी)	०– ३–०
६	षोडश ग्रंथ (व्रज भाषांतर सहीत)	०– ६–०
७	गीता तात्पर्य (हिन्दी)	०– २–०
८	,, (गुजराती)	०– २–
९	न्यासादेश वगेरे.	
१०	सेवाकौमुदी ...	०– ४–

मिलनेका ठिकाना,

श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत संस्कृत पुस्तकालय,

बडा मंदिर (गौशाळा ऊपर) मुंबई—२.